समरथ

सितंबर-दिसंबर 2010 ◆ नई दिल्ली

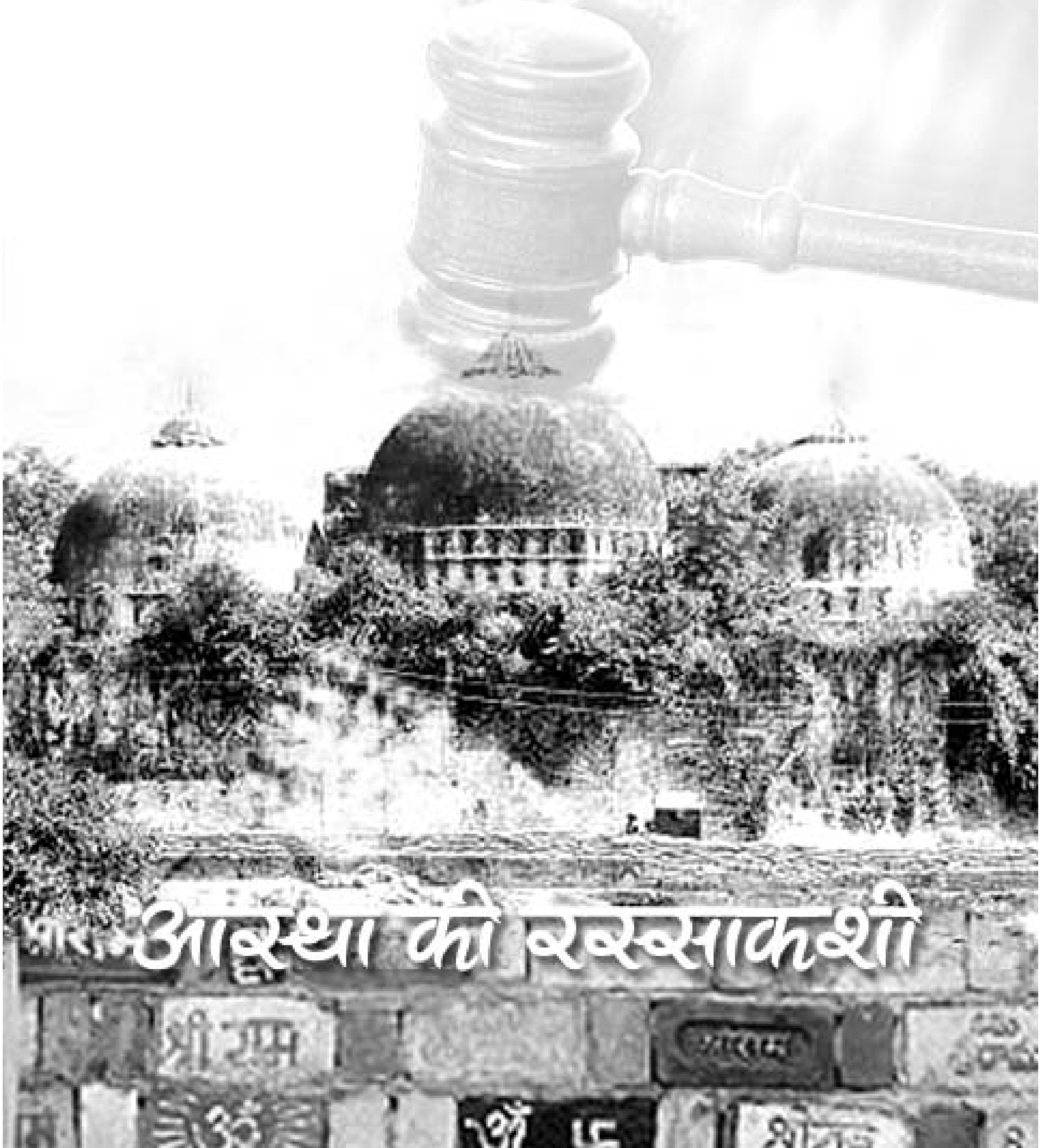

दर्शकों की लाचारी

उधर बाबरी मस्जिद गिराने की तैयारी चल रही थी, इधर प्रगतिशील ताकतों के बीच उलझी हुई बहसों का दौर-दौरा था—बहस के केन्द्र में जो मुद्दा था वह यह कि हिन्दुस्तान में फासीवाद आ रहा है या नहीं। फासीवाद की समझदारी वही थी जो आमतौर पर जर्मनी, इटली और स्पेन के सबक से मिलती है और जिसे पैमाना बनाकर हर देश काल में फासीवाद का प्रतिशत तय किया जाता है। दूसरी बार इस बहस ने जोर पकड़ा गुजरात 2002 के बाद और आम राय बनने लगी कि यह निश्चित तौर पर फासीवाद की आहट है, हालांकि सांख्यिकी से आतंकित हमारा विश्लेषणात्मक मानस फिर भी कहीं न कहीं हिचक रहा था—एक ओर मारे गये 70 लाख यहूदी दूसरी ओर दो-चार हजार मुसलमान—हो न हो यह आहट भर है। फासीवाद की हमारी समझ बहुत परिमाणात्मक है—जब संविधान का इतना उल्लंघन होगा, जब लोकतांत्रिक परंपरायें इतनी आहत होंगी, जब इतने अल्पसंख्यक हाशिये पर डाल दिये जायेंगे, जब राज्य इतनी ताकत केन्द्रित कर लेगा आदि-इत्यादि। अंकों, प्रतिशत और परिमाण पर आधारित यह समझ हमें उस प्रक्रिया को समझने से रोकती है जो एक पूंजीवादी समाज और राज्य के भीतर लगातार चलती रहती है अनिवार्य नियम की तरह—वह अपने को उसी अनुपात में व्यक्त करती है जिस अनुपात में उसकी जरूरत हो—कभी-कभी वह 2 हजार अल्पसंख्यकों के कत्ल पर संतोष कर लेती है कभी-कभी सिर्फ एक उम्र कैद पर... जी हाँ बिनायक सेन की उम्रकैद की सज़ा पर हमें इस तरह से सोचने की ज़रूरत है।

हमारे एक वरिष्ठ मानवाधिकार कार्यकर्ता साथी हैं वे बार-बार इस बात को रेखांकित करते हैं कि आज का समय आपातकाल के भयानक दिनों से ज्यादा कठिन हैं। और हम उनकी बात टाल जाते हैं। क्यों? क्योंकि हमारी परिमाणात्मक एवं प्रतीकात्मक सोच हिसाब लगाने लगती है—संविधान स्थगित है? नहीं। प्रेस पर पाबन्दी है? नहीं। फिर ये दिन आपातकाल से बुरे कैसे हैं। बुरे हैं ये दिन आपातकाल से ज्यादा बड़ी विपत्तियों के दिन हैं—क्योंकि संविधान को स्थगित करने की ज़रूरत ही नहीं है, क्योंकि चुनाव है, चयन का विकल्प नहीं है, प्रतिपक्षी पार्टियों के नेताओं को जेल में डालने की जरूरत नहीं क्योंकि प्रतिपक्ष है ही नहीं सभी एक पार्टी कार्टेल के हिस्से हैं, प्रेस पर पाबन्दी की ज़रूरत नहीं क्योंकि प्रेस पाबंद है। ऐसे में यह पार्टी कार्टेल, यह स्टेट प्रा. लि. अपने भीतर प्रतिपक्षी छवियां गढ़ता और मिटाता रहता है। एक हिस्सा ज़मीन की लूट को शह देता है दूसरा पर्यावरण प्रेम का प्रतीक बनता है, एक हिस्सा आदिवासियों को उजाड़ता है दूसरा उनका रहनुमा बनकर पहुँचता है, एक हिस्सा किसानों को बेदखल करता है दूसरा उनका ज्ञापन लेता है, एक सुरक्षा का भ्रम पैदा करता है दूसरा मस्जिद गिराता है—जनता कभी इसका खेल देखती है कभी उसका—कभी इस प्रतिपक्षी छवि के आगे माथा टेकती है कभी उस पर फूल चढ़ाती है। जब कभी हम में से कोई साइबर दुनिया की क्रांतिकारी चिमगोइयों से बाहर या वास्तविक दुनिया के रेडिकल तालमेलों से परे जाकर असली प्रतिपक्ष की भूमिका धारण करता है, उसके साथ वही होता है जो डॉ. बिनायक सेन के साथ हुआ। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों को धारण किये हुए राज्य की यह अर्द्ध-नारीश्वर सम छवि हमें दर्शक में तब्दील कर रही है और जो दर्शक बनने से इन्कार कर रहा है वह निशाने पर है। हम इसे फासीवाद कहें न कहें जेल की सलाखों को क्या फ़र्क पड़ता है।

एक छत्तीसगढ़ राज्य ही नहीं बल्कि समूचा मुल्क लोकतांत्रिक राज्य ही सतत् फासीवादी प्रक्रियाओं की चक्की के नीचे है—अब यह महज परिमाण का सवाल है कि फासीवाद आयेगा या नहीं। हमारा लोकतंत्र जिस केंद्रीकृत नौकरशाहाना—पूंजी कार्टेल की निर्मिति है उसमें बगैर फासीवादी प्रक्रियाओं के राज्य चल ही नहीं सकता है। इसकी ख़ासियत यही है कि संविधान, चुनाव, पार्टी, प्रेस—सभी ज़िन्दाबाद हैं और इनके नीचे चल रही प्रक्रिया ने इन सबको महज औपचारिक बना दिया है। नौकरशाही और अदालतों ने इस सतत फासीवाद को पुख़्ता आधार दिया है। और इन सबको धार्मिक वैधता प्रदान की है 'विकास' के दर्शन ने—वह दर्शन जो हर असन्तुष्ट को आतंकवादी करार देता है, जिसके भीतर कोई विपक्ष नहीं। इस दर्शन से बाहर खड़ी जनता वह अछूत दर्शक है जिसे मंदिर प्रवेश की इजाज़त नहीं। हममें से कितने हैं जो दर्शक बनने की इस लाचारी से बाहर आएँगे।

तितलियों का खून

वे हमें सबक सिखाना चाहते हैं साथी!

उन्हें पता नहीं
कि वो तुलबा हैं हम
जो मक़तब में आये हैं
सबक सीखकर,

फ़र्क़ बस ये है
कि अलिफ़ के बजाय बे से शुरू किया था हमने
और सबसे पहले लिखा था बग़ावत।

जब हथियार उठाते हैं हम
उन्हें हमसे डर लगता है
जब हथियार नहीं उठाते हम
उन्हें और डर लगता है हमसे
ख़ालिस आदमी उन्हें नंगे खड़े साल के दरख़्त की तरह डराता है
वे फौरन काट देना चाहते हैं उसे।

हमने मान लिया है कि
खूने इन्सां ब-हरसूरत
ज़मीं पर बहने के लिये है
उन्हें ख़ौफ इससे है... कि हम
जंगलों में बिखरी सूखी पत्तियों पर पड़े
तितलियों के खून का हिसाब माँगने आए हैं

अंशु मालवीय

काश के वो बिनायक सेन न होता

■ रिज़वी आमिर अब्बास सैय्यद

काश के वो सिखों का हत्यारा होता, या गुजरात के नरसंघार में शामिल होता
काश के वो प्राइवेट अस्पताल के लुटेरे डाक्टरों में से एक होता
काश के वो किसी मल्टीनेशनल कंपनी का दलाल होता
काश के वो राष्ट्रीय धरोहर को बेचने वाला बनिया होता

काश के वो हिंसा प्रेरित करने वाले सलवा-जुडूम का सदस्य होता
काश के वो भाषा धर्म, मस्जिद, मंदिर के नाम पर रथ यात्रा निकाल पाता
काश के वो घूसखोर पुलिस का अफसर होता
काश के वो किसान की मेहनत से उपजे अनाज को सड़ाने वाला कृषि मंत्री होता

काश के वो त्रिशूल बाँटने वाला धार्मिक गुरु होता
काश के वो टीवी चैनलों पर नफरत फैलाने वाला कठमुल्ला होता
काश के वो जंगलों को उजाड़ कर खदान बनाने वाला मंत्री होता
काश के वो पुलिस और सेना के अत्याचार पर गर्व करने वाला राष्ट्रवादी होता

काश के वो अहम की खातिर इंसानियत की बलि चढ़ाने वाले वक्तव्य देता
काश के उसके हृदय में करुणा और दया नाम की कोई चीज़ न होती
काश के वो अपने सारे सुख और चैन को त्याग कर गाँव की सेवा में ना जाता
काश के वो भी हम आप जैसे सोये हुए नागरिकों में से एक होता

काश के वो भी अपने परिवार और व्यापार में व्यस्त और मस्त होता
काश के वो महात्मा गांधी के आदर्शों का मज़ाक उड़ा पाता
काश के वो डाक्टरों द्वारा ली गई शपथ का पालन नहीं करता
काश के वो भ्रष्ट अन्यायपालिका और दबंगों के आगे घुटने टेक देता

काश के वो घूस लेकर आतंक को भारत में प्रवेश देने वाला सुरक्षा कर्मी होता
काश के वो देश को गरीबों और किसानों की समस्या से बहकाने वाली न्यूज सुनाता
काश के वो नोबेल शांति पुरस्कार के विजेता ओबामा साहब के साथ नाचता गाता
काश के उसका दिल मानवाधिकार के लिए नहीं धड़कता

तो आज
बिनायक देश का खलनायक नहीं कहलाता
न कोई कार्यवाही होती, न ही देशद्रोही का इलज़ाम गढ़ा जाता
उम्र कैद की जंजीरों से दूर वो भी सम्मानीय और स्वतंत्रत होता
काश, काश, काश!!!

इतिहास के आईने में अयोध्या विवाद

■ सुरेश सलिल

अयोध्या के मंदिर-मस्जिद विवाद पर इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसल में 'आस्था' को निर्णायक माने जाने से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि इस अत्यंत संवेदनशील मुद्दे को फिर से 1992 वाले सांप्रदायिक अराजकता के दौर में खींच ले जाने की चूक न्यायपालिका से हुई है। इस अदालती फैसले के बाद एक ऐसे ध्रुवीकरण के स्पष्ट संकेत मिलने लगे हैं, जो इस विवाद को सुलझाने के बजाय और उलझा सकता है। यानी अपीलों की स्थिति में, सुप्रीम कोर्ट कोई भी फैसला दे, हो सकता है आस्था को आधार बनाकर दोनों सांप्रदायिक धड़े एक दूसरे के खिलाफ मैदान में उतर आएं।

जाहिर है, यह बहुत ही खतरनाक स्थिति होगी। फिर अयोध्या विवाद से अलग हट कर भी देखें, तो आस्था जैसी विशुद्ध भावनात्मक अवधारणा को न्यायिक पैमाना बना कर इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने स्वयं न्यायपालिका के लिए कदम-कदम पर अवरोध ला खड़े किये हैं। मजहबी रंग वाले किसी भी विवाद पर न्यायिक विचार करते हुए न्यायपालिका को 'आस्था' के कुतर्क से टकराना पड़ेगा।

लेकिन इस लेख का मूल विषय, इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय से थोड़ा अलग है और लगभग अचर्चित रहे आए एक ऐतिहासिक दस्तावेज के आलोक में उस इतिहास-क्षण तक जाता है, जहां से अयोध्या के मंदिर-मस्जिद विवाद का सूत्रपात हुआ था। साथ ही, एक ऐसा प्रश्न भी, जो कोई डेड़-सौ वर्षो से चले आ रहे इस विवाद के बीच गुमनाम रहा।

अयोध्या के मंदिर-मस्जिद विवाद से जुड़े जो ऐतिहासिक तथ्य सुलभ हैं, उनके अनुसार यह विवाद सन 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह से पहले अवध के अंतिम नवाब वाजिद अली शाह के शासन-काल में भी मौजूद था और नवाबी फौजों ने बुनियादपरस्त मुसलमानों से रुदौली के मैदान में निर्णायक टक्कर ली थी और काफी बड़ी तादाद में खूनखराबा हुआ था। बाद में, खासतौर से बीसवीं सदी में, थोड़े-थोड़े अंतराल से यह विवाद सिर उठाता रहा- 1930 के दशक के मध्य और 1949 के विवादों की तफसील ऐतिहासिक तथ्यों से होती है। लेकिन वाजिद अली शाह के शासन-काल से पहले भी क्या मंदिर-मस्जिद का विवाद अयोध्या के संदर्भ में कभी उठा था? इस प्रश्न पर इतिहास कोई रोशनी नहीं डालता।

अभी हाल में, हिंदी में एक किताब प्रकाशित हुई है 'गदर 1857 : आंखों देखा विवरण', जो 1857 के पहले स्वाधीनता संग्राम के बाद मूल रूप में उर्दू में लिखी गई पुस्तक 'खदंगे-गदर' (अर्थात गदर के तीर या बाण) का अविकल अनुवाद है। इस पुस्तक का मूल विषय तो गदर है ही, मगर उसी प्रसंग में अयोध्या के मंदिर-मस्जिद विवाद की शुरुआत पर भी थोड़ी-सी रोशनी पड़ती है।

इस पुस्तक के लेखक मोईनुद्दीन हसन 1857 की घटनाओं के दौरान दिल्ली के पहाड़गंज थाने के थानेदार थे और घटनाओं के मध्य में रह कर सारी उथल-पुथल को खुली आंखों देखा और विश्लेषित किया था। न सिर्फ दिल्ली, बल्कि विद्रोह से प्रभावित देश के सभी क्षेत्रों की घटनाओं की उनके पास दुर्लभ और प्रामाणिक जानकारियां थीं। उन्होंने ही दिल्ली में ब्रिटिश हुकूमत के आला अफसरों में से एक थियोफिल्स जॉन मेटकॉफ को विद्रोहियों के घेरे से निकाल कर सुरक्षित जगह छिपाया था। इसी वजह से जॉन मेटकॉफ और उनके अनुज चार्ल्स उन्हें अत्यंत कृपाभाव से देखते थे।

ब्रिटिश शासन के प्रति स्वामीभक्ति के बावजूद, सत्तावनी विद्रोह की विफलता के बाद जब फिर से दिल्ली पर ब्रिटिश वर्चस्व कायम हुआ और बदले की भावना से अंग्रेजों ने दिल्ली में जो लूटपाट की, बर्बादी बरपा की, तो मोईनुद्दीन हसन भी उस सबकी चपेट में आए। उनका घरबार, धन-दौलत, बर्तन-भांडे, सब कुछ लुट गया। उन पर विद्रोहियों से मिले होने का आरोप लगा कर तहकीकात कराई गई। उस दौरान मेटकॉफ बंधुओं की ही कृपा और अनुग्रह से मोईनुद्दीन न सिर्फ आरोपों से बरी हुए, बल्कि उनकी पिछली हैसियत भी बहाल हुई। उन्हें पांच हजार रुपए का इनाम देकर सम्मानित भी किया गया।

'खदंगे गदर' किताब लिखे जाने के पीछे भी मूल प्रेरणा जॉन मेटकॉफ के अनुज चार्ल्स मेटकॉफ की थी। वे उस समय कोलकाता के पुलिस कमिश्नर थे। वे मोईनुद्दीन से 1857 के विद्रोह का हाल मौखिक रूप से सुन कर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने मोईनुद्दीन से उस सब को कलमबंद करने और किताब की शक्ल देने का अनुरोध किया। मोईनुद्दीन के अपने शब्दों में, 'मैंने कहा कि लिखने में कोई रुकावट नहीं है...मगर अब तक मैंने इस डर से नहीं लिखा कि सच

लिखते हुए कहीं सरकार पर ही उंगली न उठ जाए और मेरी सत्यवादिता पर मुझसे पूछताछ शुरू हो जाए।' लेकिन जब सर जॉन वेली और चार्ल्स मेटकॉफ ने उन्हें पूरी तरह अभयदान दे दिया, तो मोईनुद्दीन हसन ने इस शर्त पर 'खदंगे-गदर' लिखना मंजूर किया कि इसका प्रकाशन 'मेरे जीवन-काल में किसी भी जबान में न किया जाए।'

इस तरह 'खदंगे-गदर' नाम की यह किताब लिखी गई और मूल उर्दू पांडुलिपि चार्ल्स मेटकॉफ के सुपुर्द कर दी गई। एक फरवरी 1885 को चार्ल्स मेटकॉफ को हैदराबाद से एक तार मिला कि कल सुबह मोईनुद्दीन हसन का इंतिकाल हो गया। इस खबर ने मेटकॉफ को उस शर्तनामे से मुक्त कर दिया, जो 1878 में मोईनुद्दीन से हुआ था।

मेटकॉफ ने अब 'खदंगे-गदर' के अंग्रेजी अनुवाद पर हाथ लगाया। यह अनुवाद 1892 में पूरा हुआ। उसके कुछ ही अरसे बाद चार्ल्स मेटकॉफ का निधन हो गया। आखिरकार 1898 में 'खदंगे-गदर' का पहली बार अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ। लेकिन उस अनुवाद में से ऐसे बहुत-से अंशों को हटा दिया गया, जिनमें भारत की ब्रिटिश सरकार की आलोचना थी। यही नहीं, चार्ल्स मेटकॉफ ने कुछ अपने विचार भी उसमें जोड़ दिये थे। पर इसके लिए अंग्रेजों की नैतिकता और प्रबंधन-कुशलता की प्रशंसा की जानी चाहिए कि 'खदंगे-गदर' की मूल उर्दू पांडुलिपि में कोई छेड़छाड़ किए बिना उसे यथावत सुरक्षित रखा गया। लंदन के इंडिया ऑफिस में कोई एक सदी तक सुरक्षित रही 'खदंगे-गदर' की मूल उर्दू पांडुलिपि की प्रतिलिपि से प्रोफेसर अब्दुल हक ने उसका अविकल हिंदी अनुवाद दिल्ली विश्वविद्यालय के 'हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय' से प्रकाशित कराया है।

यह अमूल्य पुस्तक 1857 के विद्रोह के मूलभूत कारणों, उसके स्वभाव और प्रकृति पर सर्वथा भिन्न तरह से रोशनी डालने के साथ-साथ, आज के सर्वाधिक विवादित अयोध्या-प्रसंग से जुड़े कुछ बुनियादी तथ्य भी सुलभ कराती है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि सन 1848 में दिल्ली पुलिस में तैनाती से पहले मोईनुद्दीन हसन एक लंबे अरसे तक अवध की नवाबी हुकुमत में मुलाजमत कर चुके थे और मोहम्मद अली शाह, अमजद अली शाह और आंशिक तौर पर वाजिद अली शाह का ज़माना देख चुके थे।

मोईनुद्दीन हसन ने 'खदंगे-गदर' के शुरू में ही 1857 के विद्रोह का एक प्रमुख कारण लखनऊ की नवाबी हुकुमत की जब्ती को माना है और जब्ती की जो वजहें दिखाई हैं, जिनका बहाना बना कर अंग्रेजों ने वाजिद अली शाह से हुकूमत छीनी, उनमें अयोध्या में मस्जिद-मंदिर विवाद के सूत्रपात और बड़े खूनखराबे को निर्णायक जगह दी है। उन्होंने यह भी माना है कि हनुमानगढ़ी में फसाद की पहल मंदिर के पुजारियों की तरफ से हुई।

इस पूरे प्रकरण में 'खदंगे-गदर' के लेखक ने राजा दर्शन सिंह नाम के एक व्यक्ति की पहचान की है, जो हरमेंद्र सिंह नाम के एक सिपाही का बेटा था, लेकिन बुद्धि और कौशल से 'राजा' की उपाधि हासिल करने में कामयाब हुआ। दर्शन सिंह बहादुर और कुशल प्रशासक था। अपने प्रशासन-काल में फैजाबाद के करीब बड़ी-बड़ी देहातों की जमींदारी खरीदी। इस प्रकार एक बड़े ताल्लुके का मालिक हो गया। हनुमानगढ़ी, जो फैजाबाद के करीब थी, उसी के ताल्लुके में आ गई। हनुमानगढ़ी में एक शिवालय था और उसके करीब एक मस्जिद थी। राजा दर्शन सिंह ने गढ़ी शिवालय और मस्जिद को एक अहाते में कर दिया। ...मस्जिद जो कि हनुमानगढ़ी के अहाते में आ चुकी थी, उसमें कभी-कभी कोई मुसलमान नमाज तो पढ़ लेता था, पर अजान नहीं दे सकता था। ...भाग्यवश हुसैनशाह नामक एक यात्री-फकीर वहां आया और नमाज पढ़ने से पहले अनभिज्ञता के कारण, बुलंद आवाज में अजान दे दी। इस पर हनुमानगढ़ी के मंदिर में रहने वाले पुजारी, अजान की आवाज़ सुन कर मस्जिद में आ घुसे और हुसैनशाह को मारा-पीटा। उससे 'कुरान मजीद' छीन कर जला दिया और उसे मस्जिद से निकाल दिया। वह बेचारा वहां से लखनऊ आया और मुहल्ला-मुहल्ला जाकर हर मुसलमान को आपबीती सुनाई...।'

इसी सिलसिले में गोमती-पार के मुहल्ला हैदराबाद जाकर हुसैन शाह, हैदर खां से मिला। हैदर खां के ही नाम से मुहल्ला आबाद था और वह सरकारे-शाही में रिसालदार था। उसके तीन भाई और थे। वे भी रिसालदार थे। हैदर खां, हुसैन शाह से सारा माजरा सुन कर उसकी मदद को तैयार हो गए। उनका एक छोटा भाई भी जोश में भर कर आगे आया और तीनों हनुमानगढ़ी के लिए चल पड़े। वहां पहुंच कर तीनों उसी मस्जिद में रुके और दोनों भाइयों ने हुसैन शाह से अजान देकर नमाज पढ़ने को कहा।

अजान की आवाज़ सुनते ही, वही पुजारी लठैतों का एक बड़ा गिरोह लेकर आ गए। चूंकि हैदर खां और उसका भाई भी अपनी तलवारें साथ लेकर गए थे, लिहाजा जैसा को तैसा जवाब देने में कोई चूक नहीं की। लेकिन संख्याबल के आगे ज़्यादा देर टिक नहीं पाए और वहीं जूझ मरे।

विचित्र बात यह है कि हुसैन शाह इस बार भी बच निकला। वह फिर लखनऊ वापस लौटा और सभी छोटी-बड़ी मजहबी मजलिसों में जाकर सारा वाकया बयान किया, लेकिन कहीं कोई सुनवाई नहीं हुई। अंत में वह मौलवी सैयद अमीर अली के पास गया।

अमीर अली अमेठी के बंदगी मियां के पीरजादों में से थे। एक मस्जिद में फकीरों की तरह रहते थे। लेकिन साधारण मुस्लिम जनता में उनका बड़ा मान-सम्मान और रसूख था। हुसैन शाह से सारा मामला सुन कर उन्होंने अपने सारे मुरीदों को बुलवाया और दीन की हिफ़ाज़त का वास्ता देकर प्रवचन किया। दो मुसलमानों के खून और कुरान मजीद जला देने के कारण उन्होंने जिहाद (धर्मयुद्ध) का फतवा भी दिया। इस तरह सैयद अमीर अली मुसलमानों के एक बहुत बड़े हुजूम की अगुवाई करते हुए हनुमानगढ़ी की ओर चल दिए।

यह खबर जब लखनऊ के अंग्रेज रेजीडेंट को मिली तो उसने बिना देर किये इसकी लिखित सूचना शाही दरबार को भेजी, कि इस मामले में तुरंत कार्रवाई की जाए, वरना हज़ारों आदमी मारे जाएंगे और बड़ी बदनामी होगी। सूचना पाकर बादशाह वाजिद अली शाह और वजीरे-आज अली नकी खां तुरंत सक्रिय हुए। एक ओर उन्होंने शहर के सबसे सम्मानित और नामी विद्वान मौलाना खादिम हुसैन फिरंगी महल को बुलवाया कि वो एक ऐसा वाज़ (प्रवचन) देकर फतवा जारी करें कि आम जनता अपना इरादा बदल दे और फसाद रुक जाए, दूसरी ओर शेख हुसैन बख़्श और खानबहादुर मोहम्मद तहव्वुर को, मौलवी अमीर अली को समझा-बुझा कर, बातचीत के लिए वापस लौटा लाने को भेजा गया।

लेकिन अमीर अली पर इन दोनों की पेशकश का कोई असर नहीं हुआ और वे वापस लौटने को राजी नहीं हुए। तब अली नेकी खां ने शहर की एक और सम्मानित और भरोसेमंद शख्सियत बशीरुद्दौला ख्वाजासरा को इसके लिए तैयार किया। वे सैयद अमीर अली के पास गए, एक पर एक तफसील से बात की और सारे मामले को समझा। मौलवी साहब ने कहा 'आप आए हैं तो मैं वजीर साहब से बात करने को चल सकता हूं, लेकिन हमारे आदमी, मेरे वापस आने तक यहीं रुके रहेंगे। हम सिर्फ यह चाहते हैं कि मस्जिद को हनुमानगढ़ी के अहाते से बाहर कर दिया जाए, उसने नमाज अदा करने और अजान देने में कोई दखलंदाजी न करे, साथ ही, जो लोग पाक कुरान की तौहीन करने और उसे जलाने के दोषी हैं, उन्हें इस्लामी कानून के मुताबिक सजा दी जाए।'

ख्वाजासरा बशीरुद्दौला को भी उनकी बातें वाजिब प्रतीत हुईं। उन्होंने कहा, 'बातचीत के लिए आप मेरे साथ चलिए। अगर इस मामले में कोई उचित फैसला होता है, तब तो ठीक, वरना मैं आपको वापस यहीं छोड़ जाऊंगा।'

इस तरह मौलवी अमीर अली अपने मुजाहिदीन को वहीं इंतजार करने का निर्देश देकर, बशीरुद्दौला के साथ लखनऊ लौट आए। आठ-दस रोज वे बशीरुद्दौला के यहां ही रहे और इस दौरान बशीरुद्दौला ने कई बार नवाब अली नकी खां से मुलाकात की। गुजारिश की, कि इस मामले को जल्द से जल्द निपटाया जाए। लेकिन अली नकी से चूक यह हुई कि उन्होंने अमीर अली के वापस लौट आने पर मान लिया कि मामला यहीं पर ठंडा हो गया और उन्होंने बशीरुद्दौला की बातों पर कोई खास ध्यान नही दिया। आखिरकार बशीरुद्दौला ने हार मान ली और निराश होकर सैयद अमीर अली को जहां से लाए थे वहीं वापस छोड़ आए। मौलवी अमीर अली अपने इरादे के पक्के थे। वापस लौट कर उन्होंने अपने काफिले को आगे कूच करने का आदेश सुना दिया और मुजाहिदीन का काफिला फिर हनुमानगढ़ी की दिशा में बढ़ चला।

जब नवाब अली नकी को इस सबकी सूचना मिली, तो गुस्से में आकर कर्नल वार्लो को बुलाया और कहा, सेना लेकर जाइए और मौलवी अमीर अली और उनके लोगों को आगे बढ़ने से रोकिए। अगर तब भी वे न मानें, तो तोपों के मुंह खोल दीजिए। कर्नल वार्लो, आदेशानुसार, मय फौजफाटे के तुरंत चल पड़ा।

यहां एक बात खासतौर से गौर करने लायक है। वार्लो ने अपने साथ के लिए जो फौजी टुकड़ी तैयार की, उसमें से एक-एक मुसलमान सैनिक को छांट कर अलग निकाल दिया और सिर्फ हिंदू सैनिकों की टुकड़ी अपने साथ ले गया। हिंदू-मुसलमानों के बीच भेद डालने वाली अंग्रेजों की पोशीदा नीति की यह पहली ज्ञात मिसाल है।

पूरे फौजफाटे के साथ, मौके पर पहुंच कर वार्लो ने मौलवी अमीर अली से बात की, कि आप अपना इरादा बदल दीजिए। आप हुकूमत के लिए समस्या पैदा करेंगे तो मजबूर होकर हमें कार्रवाई करनी पड़ेगी। जवाब में मौलवी साहब ने कहा, हमारी लड़ाई बादशाह या हुकूमत से नहीं है। हम तो हनुमानगढ़ी जा रहे हैं। आगे जो होगा देखा जाएगा।

अब दोनों ओर से लाग-डांट का सिलसिला शुरू हो गया। जब मौलवी साहब और उनके लोग कूच करें, तो सेना भी कूच करे, जब मौलवी साहब का पड़ाव हो, तो सेना भी पड़ाव डाल दे। आखिरकार जब मौलवी अमीर अली का काफिला रुदौली के मैदान से आगे हनुमानगढ़ी की ओर बढ़ने लगा, तो सेना ने मोर्चा खोल दिया। कर्नल वार्लो की तरफ से अंतिम हिदायत दी गई, कि अब भी सोच लो! लेकिन मौलवी को सोचना क्या था। वे तो जो सोचना था, पहले ही सोच चुके थे।

अंत में गोलाबारी शुरू हुई। मौलवी अमीर अली और

उनके लोग भी तलवार खींच कर तोपों पर जा बढ़े। जोरदार मुकाबला हुआ, लेकिन तोपों के आगे तलवारों की क्या औकात! और इस तरह मौलवी सैयद अमीर अली अपने एक सौ ग्यारह मुजाहिदीन के साथ वहीं कट मरे। अयोध्या के मस्जिद-मंदिर विवाद से जुड़ी पहली बड़ी और दिल दहला देने वाली घटना यही थी।

'खदंगे-गदर' में दर्ज इस घटना पर संदेह करने का कोई कारण नहीं हो सकता। मोईनुद्दीन हसन ने इसे अपनी पुस्तक में मंदिर-मस्जिद विवाद को एक खास रंग देने के लिए नहीं शामिल किया था। उनका उद्देश्य यह बताना था कि इस और कुछेक अन्य घटनाओं को आधार बना कर हुई 'लखनऊ की जब्ती भी गदर (विद्रोह) का एक बड़ा कारण है।... इसी वजह से पूरबी सरकार की सेना अंगेज सरकार से नाराज और बददिल हो गई थी।'

लेकिन 'खदंगे-गदर' में दर्ज इस घटना से एक ओर जहां अयोध्या के मंदिर-मस्जिद विवाद से जुड़े कुछेक तथ्य पहली बार रोशनी में आते हैं, वहीं कुछेक ऐसे सवाल भी रोशनी में आते हैं, जिन पर आज तक विचार नहीं हुआ है।

पुस्तक में दर्ज उपर्युक्त घटनाक्रम के अनुसार विवाद की भूमिका अचानक बनी, पहले से सोची-समझी किसी साजिश का दखल उसमें नहीं था। यह भी कि उसे हिंसक और मजहबी हठध ार्मिता का चरित्र देने की पहल हिंदू पुजारियों की ओर से हुई। अयोध्या विवाद से जुड़ी अब तक की किसी चर्चा में मस्जिद के पास किसी मंदिर के होने का उल्लेख नहीं आया है। 'खदंगे-गदर' से पहली बार पता चलता है कि अवध के नवाबी शासनकाल में विवादित मस्जिद के निकट एक मंदिर भी था, लेकिन दोनों को एक घेरे में घेरने का काम हनुमानगढ़ी की जमींदारी पर काबिज होने के बाद नव सामंत दर्शन सिंह ने किया।

एक जो सबसे गौरतलब बात है, वह यह कि 'खदंगे-गदर' के लेखक ने मस्जिद को 'बाबरी मस्जिद' या, मंदिर को 'राम जन्मभूमि' या 'राम मंदिर' एक बार भी नहीं कहा है। मंदिर को उसने सर्वत्र 'शिवालय' कहा है और मस्जिद को सिर्फ 'मस्जिद'।

इसे लेखक का अज्ञान मान कर आया-गया नहीं किया जा सकता, क्योंकि पूरी पुस्तक को पढ़ने से साफ पता चलता है कि उसके लेखक में गहरी इतिहास-दृष्टि थी, ऐतिहासिक तथ्यों के उल्लेख में वह हर जगह बहुत सतर्क दिखाई देता है और यह भी कि फैजाबाद जिले और हनुमानगढ़ी की भौगोलिक और प्रशासनिक स्थिति से वह भलीभांति परिचित था।

पीछे इस बात का उल्लेख हो चुका है कि 'खदंगे-गदर' का लेखक, दिल्ली पुलिस में मुलाजिम होने से पहले 'बादशाहे-अवध मुहम्मद अलीशाह के जमाने' से 'नवाब वाजिद अली शाह के जमाने में भी कुछ दिनों लखनऊ में रहा।' 'इसके बाद नौकरी छोड़ कर दिल्ली वापस चला आया। सन 1848 से अंग्रेज सरकार की दिल्ली में कोतवाली का थानेदार हो गया।' इससे एक संदेह यह जरूर पैदा होता है कि, कम से कम सन 1848 तक हनुमानगढ़ी की उन दोनों धार्मिक इमारतों को बाबर और राम जन्मभूमि से जोड़ कर नहीं देखा जाता था- 'बाबरी' और 'राम जन्मभूमि' विशेषण उनके साथ बाद में जोड़े गए।

जो सबसे प्रमुख और गंभीर सवाल है, वह यह कि सन 1948 तक जो 'शिवालय' हनुमानगढ़ी में था, जिसके पुजारियों ने मस्जिद पर चढ़ कर बुनियादपरस्त मुसलमानों को छेड़ा, उन्हें अपमानित किया और एक बड़े मजहबी विवाद का बीज बोया, वह शिवालय बाद में क्या हुआ? कहां गया? पुरातत्व विभाग ने अयोध्या में खुदाई से जो मंदिर के अवशेष बरामद किए और जिनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि मंदिर तोड़ कर उसकी नींव पर बाबर ने मस्जिद बनवाई, वे अवशेष उसी 'शिवालय' के तो नहीं थे, जो बाद में किन्हीं वजहों से ढह गया हो, या ढहा दिया गया हो!

सर्वविदित है कि 1857 के विद्रोह का एक प्रमुख केंद्र अवध में फैजाबाद से लखनऊ के मध्य का क्षेत्र था। विद्रोहियों की कई मुठभेड़ें इसी क्षेत्र में अंग्रेजों से हुई थीं, जिनका नेतृत्व फैजाबाद के डंकाशाह और लखनऊ की बेगम हजरतमहल ने किया था। क्या इस बात की संभावना नहीं बनती कि उन मुठभेड़ों की चपेट में आकर उक्त शिवालय 'बाबर द्वारा ढहाए गए राम मंदिर के पुरावशेषों' में तब्दील हो गया हो?

और अंतिम बात। इलाहाबाद हाईकोर्ट की लखनऊ खंडपीठ ने अपने बहुप्रतीक्षित फैसले में जिस 'आस्था' को निर्णायक महत्व दिया है, उसी 'आस्था' को जिद की हद तक खींच कर उन्नीसवीं सदी में दोनों मजहबों से जुड़े बुनियादपरस्तों ने इस 'महान विवाद' की नींव रखी थी। तर्कशील और विद्वान न्यायाधीशों को यह भी ध्यान में रखना चाहिए था कि एक बिंदु पर पहुंच कर बुनियादपरस्ती और आस्था परस्पर एक दूसरे के पर्याय हो जाते हैं।

साभार : जनसत्ता

अदालत में आस्था के लिए कोई स्थान नहीं

■ अजय आशीर्वाद की जस्टिस राजिंदर सच्चर से बातचीत

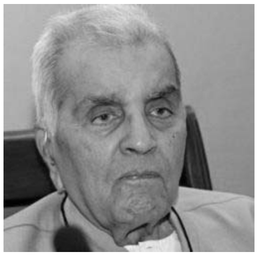

अयोध्या से संबंधित फैसले पर जिन लोगों ने विरोध जताया उनमें जस्टिस सच्चर एक प्रमुख स्वर रहे हैं। भारतीय मुसलमानों की पसमांदगी पर सच्चर कमिटी की रिपोर्ट तैयार करने वाले जस्टिस सच्चर के अनुसार इलाहाबाद हाई कोर्ट की लखनऊ बेंच द्वारा 30 सितम्बर को सुनाया गया फैसला किसी भी कानूनी दायरे से परे है और बाबरी मस्जिद ध्वस्त करने वाले संघ परिवार के पक्ष में जाने वाला यह फैसला मुसलमानों के साथ घोर अन्याय करता है। यहां पर हम उनके द्वारा फ्रंटलाइन को दिये गए एक इंटरव्यू के कुछ अंश पेश कर रहे हैं :

राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद मात्र एक धार्मिक विवाद नहीं है बल्कि पिछले दो दशकों में राजनैतिक उथलपुथल का केंद्र भी रहा है इस संदर्भ में फैसले पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

फैसले को दो शब्दों में व्याख्यायित किया जा सकता है : आपराधिक कदम। 1992 में एक घटना घटी। बाबरी मस्जिद ढहा दी गयी। फ़र्ज़ करे मस्जिद न गिरायी जाती और मुद्दा न्यायालय में जाता तो क्या अदालत किसी भी परिस्थिति में यह कहती कि ज़मीन का बंटवारा कर दिया जाए। होना तो यह चाहिए था कि जिस बुनियाद पर हिन्दुत्ववादी संगठनों ने ज़मीन मांगने के लिए अदालत का दरवाज़ा खटखटाया, उन्हें तो उकसाने की बुनियाद पर अदालत से भगा देना चाहिए था। आप गौर करें कि मस्जिद 16वीं शताब्दी से वहां मौजूद थी। उन्होंने मुकदमा अब जाकर दायर किया। लिमिटेशन एक्ट के अनुसार विवाद खड़े होने के 12 साल के भीतर ही मुकदमा दायर किया जा सकता है। कानूनी तौर पर यदि मंदिर तोड़ कर भी मस्जिद का निर्माण हुआ होता तो भी संघ परिवार को कोई हक़ नहीं कि वे अपना अधिकार जताएं क्योंकि मस्जिद लिमिटेशन मियाद के पहले से मौजूद रही है।

मैं सन् 2003 से लिखता आया हूं कि इस केस के संदर्भ में नज़ीर मौजूद है (मेरे शोध से कुछ उदाहरण लेते हैं) लाहौर में शाहिदगंज नाम से एक मस्जिद पर 1940 ने प्रीवि कौंसिल ने फैसला सुनाया था। इस केस में एक मस्जिद 1722 से मौजूद थी। लेकिन 1762 के आस पास महाराजा रंजीत सिंह के शासन काल में गुरुद्वारे के रूप में इस्तेमाल होने लगी। अर्से बाद 1935 में केस अदालत में आया कि उक्त इमारत मस्जिद है और मुसलमानों को लौटा दी जानी चाहिए। प्रीवि कौंसिल का मत था कि अदालत को धार्मिक भावनाओं के साथ पूरी सहानूभुति है और किसी भी धार्मिक स्थल की पवित्रता के लिए अदालत कटिबद्ध है लेकिन लिमिटेशन एक्ट के तहत यह दलील स्वीकार्य नही है कि इस इमारत पर मालिकाना हक़ किसी और का नही हो सकता। अदालत का मत था कि वक़्फ़ के दावे के विपरीत यह इमारत सिखों के अधिकार में 12 वर्षो से अधिक अवधि तक रही है इसलिए वक़्फ़ के मुतवल्ली होने के दावे को लिमिटेशन एक्ट के तहत रद्द किया जाता है।

उस समय अदालत ने माना कि उक्त स्थल दरअसल गुरुद्वारा है। बाबरी मस्जिद की तरह यहां इमारत ढाने का मुद्दा भी नहीं था। बाबरी मस्जिद को राजनैतिक और संवेदनशील स्थल बना दिया गया।

दलीलों के आधार पर यदि 400 साल पहले बनी मस्जिद से पहले कोई मंदिर मौजूद भी था तो भी विश्व हिन्दू परिषद एवं अन्य द्वारा दायर किया गया मुकदमा खारिज हो जाना चाहिए था। इसके विपरीत सुन्नी वक़्फ़ बोर्ड, जिसने लिमिटेशन एक्ट के तहत अपील की, उसे ही अदालत ने खारिज कर दिया।

इसका एक दूसरा पहलू भी है किसी भी पड़ताल से यह सिद्ध नहीं हुआ कि मस्जिद के नीचे कोई मन्दिर मौजूद था। अधिकतर लोगों ने यही माना कि किसी मंदिर के खण्डहर हो सकते हैं। इस देश की राजनैतिक व्यवस्था लगभग 5000 साल पुरानी है। कई बौद्ध मठों को तोड़कर मंदिर और मस्जिद बनाए गए। कई हिन्दू राजाओं ने मस्जिद तोड़कर मंदिर भी बनाए। इसके पीछे कोई धार्मिक भावना नहीं थी बल्कि ऐसा उस समय की राजनैतिक मजबूरियों के तहत किया गया था।

क्या इसका यह अर्थ लगाना चाहिए कि विध्वंस और दावों से गरिमा स्थापित की जा सकती है? बाबरी मस्जिद के मामले में इतिहासकारों का मत है कि वहां कभी कोई मंदिर था ही नहीं। कोई भी अदालत हिन्दू धर्म की इस आस्था कि यह राम का जन्मस्थल है, के आधार पर फैसला कैसे दे सकती है अदालत में आस्था के लिए कोई जगह नहीं है।

इसका एक तीसरा पक्ष भी है। मुसलमान मस्जिद निर्माण करते हैं या नहीं यह एक अहम सवाल है। यह मुसलमानों की इच्छा पर निर्भर है लेकिन चूंकि मस्जिद ध्वस्त की गयी थी इसलिए ज़मीन मुसलमानों को वापस की जानी चाहिए। अनेक नवयुवक निराश हैं। कई मुसलमानों ने कहा कि वे सभी समुदायों के लिए स्कूल या अस्पताल बना सकते थे लेकिन ज़मीन बांटी नहीं जानी चाहिए थी।

यह तर्क कि ज़मीन मुसलमानों को वापस नहीं दी जानी

चाहिए, समझ से परे है। मेरी जानकारी के अनुसार कुरान भी कहता है कि राम और कृष्ण पैगम्बर हैं और मुहम्मद आखिरी पैगम्बर हैं। अनेक मुसलमान विद्वान ऐसा मानते हैं।

फैसला हास्यास्पद है। आइये हम भारतीय पुरातत्व विभाग की विवादित रिपोर्ट स्वीकार कर लेते हैं कि वहां एक मंदिर था, मुसलमान भी स्वीकार कर सकते थे। हो सकता है वे वहां मस्जिद न बनाते। लेकिन ज़मीन उन्हीं को दी जानी चाहिए थी। यह उनका मानवीय और सामुदायिक अधिकार है। यदि मंदिर तोड़ा भी गया था तो क्या 500 साल पुराने धार्मिक स्थल से मुसलमानों को विस्थापित करना तर्कसंगत है? ऐतिहासिक तथ्यों को व्याख्यायित करने में अदालत सक्षम नहीं है।

जजों ने आस्था का उल्लेख बार-बार किया है, आपकी प्रतिक्रिया?

मैं यही कह रहा था उन्होंने पाया कि हिन्दुओं की मान्यता है कि विवादित स्थल रामजन्म भूमि है। इस प्रक्रिया में दक्षिणपंथी इतिहास को वैधता प्रदान कर दी जो कि ऐतिहासिक रूप से विवादित है।

अगर आप धार्मिक आस्था को मान्यता भी दें तो इतिहास में आप कितना पीछे जायेंगे। हमारे जैसे सेक्युलर देश में यह असंभव है। मैं कड़े शब्दों का इस्तेमाल नहीं करना चाहता लेकिन यह राजनैतिक बेईमानी है हमारे राजनैतिक दल कोई स्पष्ट रुख अपनाना नहीं चाहते। अगर हमारी सरकार स्पष्ट रुख अपनाती तो मस्जिद गिराई ही नहीं जाती। अभी तमाम राजनैतिक दल कह रहे हैं कि मामला अदालत में तय होना चाहिए। लेकिन भारत एक सेक्युलर देश है। अदालत का काम है मुकदमे की सुनवाई करना और उस पर अपनी राय प्रस्तुत करना। इस मुकदमें में न तो न्यायिक प्रक्रिया अपनायी गयी और न ही सामान्य कानून का ध्यान रखा गया। न्याय देने के बजाय जजों ने सरपरस्ती का काम शुरू कर दिया।

संघ परिवार ने इशारा किया कि वह राम जन्मभूमि आंदोलन की फिर शुरुआत करेगा। इससे धार्मिक समुदायों के बीच विभाजन की पूरी संभावना बनेगी। क्या इस फैसले ने न्यायिक निष्पक्षता और वस्तुनिष्ठता के बुनियादी उसूलों पर आघात पहुंचाया है।

निश्चित रूप से यह फैसला रामजन्मभूमि के पक्ष की ओर झुकता है और बहुसंख्यक मत से प्रेरित है। संघ परिवार इसको अपनी जीत मानता है। लेकिन यह बात भी ध्यान रखने की है कि पूरी न्यायपालिका को ही कटघरे में खड़ा करना भी उचित नहीं होगा। हां यह सच है कि न्यायपालिका की साख को जरूर नुक़सान पहुंचा है। सच तो यह है कि 1949 में रामलला की मूर्तियां रखी गयी थीं। यह एक साजिश थी। मुसलमान वहां लम्बे समय से इबादत करते आए थे। यह एक मस्जिद ही थी। लेकिन जब यहां हिन्दू देवता की मूर्ति रख दी गयी तो यह प्राकृतिक ही था कि मुसलमान अपनी आस्थाओं के विपरीत मूर्ति के साथ इबादत करते। इसलिए उन्होंने बाबरी मस्जिद जाना बंद कर दिया था इसका यह मतलब नहीं कि उन्होंने उस स्थल पर अपना अधिकार ही खो दिया। 1949 में अदालत ने यहां किसी भी तरह की आराधना पर रोक लगा दी थी। लेकिन अब अदालत का फैसला है कि 1528 में मंदिर तोड़ा गया था और इस तरह अदालत ने भारतीय पुरातत्व विभाग की रिपोर्ट को वैधता प्रदान कर दी। यदि मंदिर तोड़ा भी गया था तो यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि मस्जिद गैर कानूनी थी।

यह केस मालिकाना हक से संबंधित दीवानी का मामला था लेकिन अब यह मामला राजनैतिक रूप से इतना संवेदनशील है कि इसने बाबरी मस्जिद विध्वंस को वैधता दे दी है जबकि यह एक आपराधिक कर्म था। आप इस संदर्भ में क्या कहना चाहेंगे?

हां यह सच है कि इस फैसले ने चौतरफा नुकसान पहुंचाया है और भारत की सेक्युलर आत्मा को ठेस पहुंचायी है, यह कुछ ऐसा ही है जैसा आप कहें: मस्जिद तोड़ो और जगह हिन्दुओं को सौंप दो। व्यावहारिक रूप में दो तिहाई जगह हिन्दुओं को दे दी गयी है। अदालत का फैसला लेने में आस्था के लिए कोई जगह नहीं है।

मीडिया लोगों से कह रहा है कि जो हुआ सो हुआ। अब आगे बढ़ना चाहिए कहां आगे बढ़ें? किस तरफ? क्या अपराध को भुला दिया जाए? कोई भी अदालत कहेगी कि आप अपराध करके बच नहीं सकते। मुसलमानों से संपत्ति का हक छीना जा रहा है। कानून कहता है कि यदि बेटा बाप का कत्ल कर दे तो बाप की संपत्ति पर से अधिकार जाता रहता है। लेकिन इस केस में तो गुंडों ने मस्जिद गिरायी और वे जो चाहते थे उन्हें मिल भी गया।

सच्चर कमिटी रिपोर्ट के लेखक के रूप में आपने देश में मुसलमानों की स्थिति का दस्तावेजीकरण किया है, ऐसे फैसले से मुस्लिम समुदाय को क्या संदेश मिलेगा?

ज़ाहिर है कि बहुत ही खतरनाक किस्म का संदेश मिलेगा, समय आ गया है कि राजनैतिक दल एक स्पष्ट रुख अपनायें। 1946 में बिहार जल रहा था। हिंदु मुसलमानों के बीच दंगे चरम पर थे, पंडित नेहरू ने आम लोगों के नाम एक पत्र जारी किया कि यदि दंगे नहीं रूके तो वे दिल्ली से ही बमबारी शुरु कर देंगे। बिहार मुस्लिम लीग मतदाता क्षेत्र था और लीग ही दंगे भड़का रही थी। लेकिन राजनैतिक दलों की व्यापक दृष्टि ने नुकसान को बहुत बढ़ने से बचाया। राष्ट्र को सख्त कदम उठाने पड़े जिससे कि संविधान की मूल भावना की रक्षा की जा सके। यह एक अच्छा संकेत है कि व्यापक मुस्लिम मत एक स्वस्थ तरीके की बात कर रहा है लेकिन आप उनसे यह नहीं कह सकते कि सब भूल जाओ, जैसा कि मीडिया कह रहा है। यहां मामला समुदाय के भारत की राजनैतिक व्यवस्था में आस्था का है, अच्छी बात यह है कि मुसलमानों की प्रतिक्रिया काफी संयम भरी रही है।

मुसलमानों से क्यों कहा जाये कि वे सब भूलकर आगे बढ़ जायें। यही बात संघ परिवार से क्यों नहीं कही जा सकती। वे ऐसा क्यों नहीं कर सकते। इस फैसले के बाद भी वे विजयी तो महसूस कर रहे हैं लेकिन संतुष्ट नहीं हैं। वे उस पूरी ज़मीन पर राम मंदिर बनाना चाहते हैं अगर मसला हिन्दू आस्था की पवित्रता का है तो मुस्लिम आस्था की पवित्रता का क्यों नहीं?

मेरे अनुसार यह फैसला विशुद्ध सांप्रदायिक विचारों के सामने आत्मसमर्पण का है। पूरी अयोध्या समस्या जिम्मे के लिए ज़िम्मेदारी राजनैतिक इच्छा शक्ति में निहित कमज़ोरी के सर ही जाती है।

(साभार : फ्रंटलाइन)

कबीर

■ सुधीर सक्सेना

मैं जानता हूं
    कि वे तय नहीं कर पाएँगे
कि मुझे दफनाएँ
    या जलाएँ
लिहाजा मैंने मुल्तवी की
    एक बार फिर
    अपनी मौत

भाईचारा

उसने बार-बार
    मेरा कत्ल किया
और थक गया आखिरकार
    कत्ल करते-करते
कहा उसने--
    आप अजीब हैं भाईजान
    थके नहीं मरते-मरते
मैंने कहा,
    सदियों का रिश्ता है
    फिर भला थकान कैसी?
अब मेरी बारी है
    तुम मरो
    मैं करता हूँ कत्ल

अयोध्या

■ हरीश चंद्र पांडे

जहां सूरज
वहीं दिवस
जहां राम
वहीं अयोध्या
कितनी बड़ी अयोध्या सौंप गए थे
तुलसी हमें
कितनी छोटी हो गई है अयोध्या
मतपेटिका से भी छोटी

फ़ैज़ : शतान्दी वर्ष

■ ख़ुर्शीद अनवर

भविष्य में विश्वास रखने वाले शायर और एक पुरजोश कार्यकर्ता के लिए ही एक ऐसी आज़ादी को नकारना संभव था जो आम आदमी को उसके दुखों और शोषण से नजात न दिला सके। फ़ैज़ भली-भांति जानते थे कि देश का बंटवारा होने वाला है। मगर उन्होंने पाकिस्तान या भारत के हवाले से अपनी बात नहीं कही उनके सरोकार सदैव आम आदमी ही थे चाहे उनकी राष्ट्रीय पहचान कुछ भी हो।

बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध पूरे विश्व में बड़ी उथल-पुथल का समय रहा है। इस बीच दो विश्वयुद्ध होते हैं जिनके बीच का समय तो इन युद्धों से भी भयानक कहा जा सकता है। इस ज़माने में आर्थिक महामंदी (1929-33) का लाभ उठाते हुए इटली में फासीवाद और जर्मनी में नाज़ीवाद सर उठाते हैं और पूरी मानव जाति को अभूतपूर्व ढंग से कुचल डालते हैं।

यही वो समय भी है जब औपनिवेशक शक्तियों से छुटकारा पाने के लिए स्वतंत्रता आंदोलन ज़ोर पकड़ते हैं। दक्षिण एशिया में भी एक ऐसा आंदोलन जारी है। राजनीतिक हलचल के साथ-साथ इस मुद्दत में बहुत से नये साहित्यिक और सांस्कृतिक आंदोलन भी नज़र आते हैं। एक ओर अथाह मायूसी और महरूमी है जो घोर निराशावाद और सामाजिक अलगाव की ओर ले जाती है और अंततः अस्तित्ववाद को जन्म देती है। जिसकी झलक हमें साहित्य समेत विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में दिखाई देती है।

लेकिन दूसरी तरफ बेहतर भविष्य का सपना और इसे साकार करने का संघर्ष है। जो लोग भविष्य के इस तसव्वुर में विश्वास करते थे उन्होंने सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को हालात की संगीनी की शिकार जनता के जीवन को बदलने के लिए एक प्रभावी माध्यम बनाया।

इसलिए हमें इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि जीवन से निराश और भविष्य से मायूस कलाकारों और साहित्यकारों ने अपनी कृतियों में पनाह ढूंढी मगर जो अपने सपनों के भविष्य में विश्वास करते थे वे कला और साहित्य के क्षेत्र के मात्र प्रतिनिधि बनने के बजाय सक्रिय कार्यकर्ता बनकर उभरे। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ सांस्कृतिक सक्रियता के ऐसे ही एक स्तंभ हैं और वास्तव में वे हमारे दौर के एक बड़े शायर ही नहीं बल्कि शांति आंदोलन के एक महान दूत थे।

इस समय जबकि दुनिया में फ़ैज़ की 100वीं वर्षगांठ मनायी जा रही है। इस बात को उजागर करना आवश्यक है कि फ़ैज़ का संबंध किसी विशेष देश या समाज से नहीं है उन्हें इन तंग दीवारों में क़ैद नहीं किया जा सकता। उनकी कविता 'इन्तिसाब' इसका सबूत है जिसमें वो दबी-कुचली जनता और एक-एक व्यक्ति का उल्लेख करते हुए अपनी शायरी उन्हें

समर्पित करते हैं :

किलर्कों की अफ़सुर्दा जानों के नाम
किर्मखुर्दा दिलों और ज़बानों के नाम
पोस्टमैनों के नाम
ताँगेवालों के नाम
रेलबानों के नाम
कारखानों के भोले जियालों के नाम

यहां दो और उदाहरण दिये जा सकते हैं जो यह ज़ाहिर करने के लिए काफ़ी हैं कि फ़ैज़ शांति और पूरे उप-महाद्वीप की भलाई में विश्वास रखते थे। इसलिए क्षेत्रीय और वैश्विक स्तर पर उनकी वर्षगांठ मनाना अनुचित नहीं होगा।

उनकी कविता 'सुबह-ए-आज़ादी' इस तथ्य को दर्शाती है कि उन्होंने केवल उपनिवेशिक शक्तियों से मुक्त क्षेत्र का नहीं बल्कि एक शांतिपूर्ण और खुशहाल उपमहाद्वीप का सपना देखा था।

सुना है हो भी चुका है फ़िराक़-ए-ज़ुल्मत-ए-नूर
सुना है हो भी चुका है विसाल-ए-मंज़िल-ओ-गाम
बदल चुका है बहुत अहल-ए-दर्द का दस्तूर
निशात-ए-वस्ल हलाल-ओ-अज़ाब-ए-हिज्र-ए-हराम

जिगर की आग, नज़र की उमंग, दिल की जलन
किसी पे चारा-ए-हिज्रां का कुछ असर ही नहीं
कहां से आई निगार-ए-सबा, किधर को गई

अभी चिराग़-ए-सर-ए-रह को कुछ ख़बर ही नहीं
अभी गरानि-ए-शब में कमी नहीं आई
नजात-ए-दीद-ओ-दिल की घड़ी नहीं आई
चले चलो कि वो मंज़िल अभी नहीं आई।

(आग़ा शाहिद अली द्वारा उर्दू से अनुवाद)

भविष्य में विश्वास रखने वाले शायर और एक पुरजोश कार्यकर्ता के लिए ही एक ऐसी आज़ादी को नकारना संभव था जो आम आदमी को उसके दुखों और शोषण से नजात न दिला सके। फ़ैज़ भली-भांति जानते थे कि देश का बंटवारा होने वाला है। मगर उन्होंने पाकिस्तान या भारत के हवाले से अपनी बात नहीं कही उनके सरोकार सदैव आम आदमी ही थे चाहे उनकी राष्ट्रीय पहचान कुछ भी हो।

एक और घटना जिसका उल्लेख यहां किया जा सकता है 1974 में उनका ढाका का दौरा है। पूर्वी पाकिस्तान के 16 दिसम्बर, 1971 को बंग्लादेश बनने के बाद पाकिस्तान और नये राष्ट्र बंग्लादेश के बीच बड़ी कटुता थी। एक संकुचित, सांप्रदायिक और उथली सोच का व्यक्ति बड़ी सहजता से 'राष्ट्रीय गौरव' के जाल में फंस सकता था। फ़ैज़ ने इस पर गहरा खेद प्रकट किया कि नफरत ने दो 'लोगों' के बीच जगह बना ली है।

हम के ठहरे अजनबी इतनी मुलाक़ातों के बाद
फिर बनेंगे आशना कितनी मुलाक़ातों के बाद

कब नज़र में आयेगी बे-दाग़ सब्ज़े की बहार
ख़ून के धब्बे धुलेंगे कितनी बरसातों के बाद

थे बहुत बे-दर्द लम्हे ख़त्म-ए-दर्द-ए-इश्क़ के
थीं बहुत बे-मह्र सुब्हें महरबां रातों के बाद

दिल तो चाहा पर शिकस्त-ए-दिल ने मोहलत ही ना दी
कुछ गिले-शिकवे भी कर लेते मनाजातों के बाद

उपमहाद्वीप में शांति प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में एक चीज़ जो फ़ैज़ को दूसरों से अलग करती है। वो यह है कि वो कभी सांप्रदायिक, राष्ट्रवादी वाद-विवाद में नहीं पड़े। उनके बहुत से समकालीन इसके बार-बार शिकार हुए। परंतु फ़ैज़ ने पूरे जीवन भर खुद को इससे अलग रखा। जहां दूसरों ने सरहद पार दोस्ती की बातें की उन्हें कभी भी ऐसा करने की जरूरत नहीं पड़ी इसका कारण ये था कि जहां दूसरों ने कविता की आड़ में नारेबाज़ी की और एक-दूसरे पर आरोप लगाने का रास्ता चुना और सुलह-सफाई का विचार आने पर चाहे-अनचाहे दोस्ती का हाथ बढ़ाया वहीं फ़ैज़ ने अपनी आन-बान बरकरार रखी। उनका संदेश साफ़ और स्पष्ट था। राष्ट्रीय सरहदों के परे की घटिया राजनीति लोगों को एक-दूसरे से लड़ाती रहेगी मगर मैं उन्हें एकजुट करने का प्रयास करता रहूंगा। उन्होंने न सिर्फ जनता के लिए आवाज़ बुलंद की बल्कि जनता से भी आवाज़ बुलंद करने और निडर होकर अपनी बात कहने का आवाह्न किया: '**बोल के लब आज़ाद हैं तेरे**;

और इसी के लिये जीते रहे। और उनकी शायरी इसका मुंह बोलता सबूत है। आइये हम इसी संदेश '**बोल के लब आज़ाद हैं तेरे**' के साथ उनकी 100वीं वर्षगांठ मनायें।

इन्तेसाब[1]

■ फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

आज के नाम
और
आज के ग़म के नाम
आज के ग़म केः है ज़िंदगी के भरे गुलसिताँ से ख़फ़ा[2]
ज़र्द पत्तों का बन
ज़र्द पत्तों का बन जो मेरा देस है
दर्द की अंजुमन[3] जो मेरा देस है
किलर्कों की अफ़सुर्दा[4] जानों के नाम
किर्मखुर्दा[5] दिलों और ज़बानों के नाम
पोस्टमैनों के नाम
ताँगेवालों के नाम
रेलबानों के नाम
कारखानों के भोले जियालों के नाम
बादशाह-ए-जहाँ, वाली-ए-मासिवा[6], नायबुल्लाह-ए-
फ़िल-अर्ज़[7], दहकाँ[8] के नाम
जिसके ढोरों को ज़ालिम हँका ले गये
जिसकी बेटी को डाकू उठा ले गये
हाथ भर खेत से एक अंगुश्त[9] पटवार ने काट ली है
दूसरी मालिये[10] के बहाने से सरकार ने काट ली है
जिसकी पग ज़ोर वालों के पाँवों तले
धज्जियाँ हो गई है

उन दुखी माओं के नाम
रात में जिनके बच्चे बिलखते हैं और
नींद की मार खाए हुए बाज़ुओं से सँभलते नहीं
दुख बताते नहीं
मिन्नतों ज़ारियों[11] से बहलते नहीं

उन हसीनाओं के नाम
जिनकी आँखों के गुल
चिलमनों[12] और दरीचों[13] की बेलों पे बेकार खिलखिल के
मुर्झा गये हैं

उन ब्याहताओं के नाम
जिनके बदल
बे-मुहब्बत रियाकार[14] सेजों पे सज-सज के उकता गये हैं
बेवाओं[15] के नाम
कटड़ियों[16] और गलियों, मुहल्लों के नाम
जिनकी नापाक ख़ाशाक[17] से चाँद रातों
को आ-आ के करता है अक्सर वज़ू[18]
जिनके सायों में करती है आह-ओ-बुका[19]
आँचलों की हिना
चूड़ियों की खनक
काकुलों[20] की महक
आरज़ूमंद सीनों की अपने पसीने में जलने की बू

तालिब इल्मों[21] के नाम
वो जो असहाब-ए-तब्ल-ओ-अलम[22]
के दरों पर किताब और क़लम
का तक़ाज़ा लिये, हाथ फैलाये
पहुँचे, मगर लौटकर घर न आये
वोः मासूम जो भोलेपन में
वहाँ अपने नन्हें चिराग़ों में लौ की लगन
ले के पहुँचे, जहाँ
बँट रहे थे घटाटोप, बेअंत रातों के साये

उन असीरों[23] के नाम
जिनके सीनों में फ़र्दा[24] के शबताब गौहर[25]
जेलखानों की शोरीदा[26] रातों की सरसर में
जल जल के अंजुम-नुमा[27] हो गये हैं

आने वाले दिनों के सफ़ीरों[28] के नाम
वोः जो ख़ुशबू-ए-गुल[29] की तरह
अपने पैग़ाम[30] पर ख़ुद फ़िदा हो गये हैं

1. रचना को समर्पण, 2. खिन्न, 3. सभा, 4. उदास, 5. कीड़ों का खाया हुआ, 6. सर्वोच्च स्वामी, 7. धरती पर ईश्वर का प्रतिनिधि, 8. किसान, 9. उँगली भर, 10. लगान, 11. रोने, 12. परदों, 13. झरोखों, 14. दुष्टतापूर्ण, 15. विधवाओं, 16. मकानों का समूह (पंजाबी), 17. कूड़ा-करकट, 18. नमाज के लिए हाथ-पैर धोकर पवित्र करना, 19. बैन, 20. जुल्फों, 21. छात्रों, 22. नगाड़े व पताका के मालिक, 23. बंदियों, 24. भविष्य, 25. रात को चमकने वाले हीरे, 26. परेशान, 27. सितारों जैसे, 28. दूतों, 29. फूल का महक, 30. संदेश।

सात दिन फ़िराक़ के साथ

■ यावर अब्बास

जवाहरलाल नेहरू के शहर इलाहाबाद ने मुझे जो बहुत सी नेमतें बख़्शीं उनमें से एक थी रघुपति सहाय 'फ़िराक़' को जानने का मौका। ये मौका मुझे मिला 30 के आख़िरी और 40 के शुरुआती सालों में जब मैं इलाहाबाद में एक अंडरग्रेजुएट विद्यार्थी था। उर्दू के मशहूर फ़िराक़ जो अपनी ज़िंदगी में ही किंवदंती बन चुके थे और तब विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग में लेक्चरर थे। पर कोई भी उन्हें उनके नाम से नहीं बुलाता था। वे सिर्फ अपने तख़ल्लुस से जाने जाते थे या तो 'प्रोफेसर फ़िराक़' या फिर प्यार से 'फ़िराक़ साहब'। वे छात्रों के प्रिय शिक्षक थे और बिना किसी संदेह के विश्वविद्यालय के सबसे मक़बूल शख़्सियत। मैं फारसी साहित्य, इतिहास और अंग्रेजी साहित्य का विद्यार्थी था पर फ़िराक़ मेरे टीचर नहीं थे। मेरे गुरू थे प्रो. एस. सी. देब जिनकी ज़िंदादिली उपस्थिति पूरे माहौल को पुरलुत्फ रखती थी।

उन दिनों भारतीय मनीषा के तमाम जगमगाते सितारे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में थे - डॉ. ताराचंद, डॉ. ईश्वरी प्रसाद, डॉ. अमरनाथ झा, डॉ. सर शफ़ात अहमद ख़ान, डॉ. एजाज़ हुसैन, हरिवंश राय बच्चन, डॉ. बेनी प्रसाद और भी तमाम लोग। और फ़िराक़ हालाँकि वो सिर्फ लेक्चरर थे, यहाँ तक कि वे कभी रीडर भी नहीं बन पाए प्रोफेसर बनना तो दूर की बात थी। (शायद अपने आज़ाद-ख़्याल, व्यवस्था-विरोधी आज़ाद तबियत रवैये के कारण) पर फिर भी यूनिवर्सिटी के उस्तादों की उस कहकशां में फ़िराक़ की चमक बहुत ख़ास थी। मुझे याद है मैं उनके व्याख्यानों का आनंद लेने के लिए नज़र बचाकर उनके क्लास में घुस जाता था। अपने ख़ास अंदाज़ में अंग्रेजी काव्य विशेषकर युवा रोमांटिक कवियों की पैनी समीक्षा और जिस तरह वे इसे उर्दू के महान शायरों के साथ रखकर प्रस्तुत करते, वह एक मुकम्मल मौका होता।

ग़ालिब, मीर, अनीस, इक़बाल और जोश (मलीहाबादी) और जिगर (मुरादाबादी) के उम्दा से उम्दा कलाम और कई दफ़ा बग़ैर किसी झिझक के तर्कसंगत तरीके से अपने क़लाम भी उद्धृत करते थे।

8/4 बैंक रोड पर फ़िराक़ का घर (यूनिवर्सिटी के अनाभिमानी आशियानों में से एक) विद्वतमंडली के लिए चुंबक का काम करता था। उर्दू शायरी के दीवाने हमारे ग्रुप ने उसी सड़क पर चंद मकान छोड़कर अपना ठिकाना बनाया था। बिना किसी सूचना के हम कई शामों को उनके यहाँ धमक पड़ते। फ़िराक़ युवा लोगों की सोहबत पसंद करते थे। उनकी चमकती और बेहद बड़ी रोशन आँखें, बड़ी काली अस्थिर पुतलियाँ अपने युवा प्रशंसकों को देखते ही और रौशन हो जाती थीं। वे हमारा स्वागत ऐसे करते जैसे अरसे से बिछुड़े हुए दोस्तों का। वे अपने 'पीर, बावर्ची, भिश्ती खर' को आवाज़ लगाते और सामने के छोटे से लॉन में छिड़काव करवा, कुछ कुर्सियाँ डलवाते और फिर हम सब वहाँ जम जाते और शुरू हो जाता बातों का लंबा सिलसिला। आमतौर पर यह एकालाप होता पर बीच में उनके श्रोता हस्तक्षेप भी करते, उनकी बातों को चुनौती भी देते। पर यह तरीका था फ़िराक़ का सर्वोत्तम बाहर निकालने का। वे एक सी रवानी से संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी साहित्य में आते-जाते। हमारे आग्रह पर ये शामें उनके किसी ग़ज़ल या नज़्म जो वे खुद पढ़ते, के साथ ख़त्म होती थीं। हम अपने ठिकाने की ओर लौटते, खुद को समृद्ध महसूसते और अपनी खुशी पर इतराते हुए।

यूनिवर्सिटी में बिताए उन तीन सालों के दौरान कुछ सबसे यादगार शामें फ़िराक़ के घर पर बीतीं, जब भी शहर में कोई अखिल भारतीय मुशायरा होता, बाहर से आने वाले शायरों की एक महफ़िल फ़िराक़ के घर ज़रूर जमती। बाहर का कमरा ठेठ देशी ठाठ से सज जाता और कुर्सियाँ, मेज, सोफे वगैरह वहाँ से हटा दिए जाते। सारे लोग दरियों पर गाव-तकिए और कुशन के सहारे बैठते जिनकी कोई कमी नहीं थी। इन्हीं आत्मीय महफिलों में मुझे उस दौर के बड़े शायरों को सुनना नसीब हुआ - जोश मलीहाबादी, जिगर मुरादाबादी, सागर निज़ामी, रविश सिद्दीकी, मजाज़ लखनवी, सरदार जाफरी, हरिवंश राय बच्चन, एहसान दानिश, खुमार बाराबंकी, आनंद नारायण मुल्ला और बेशक फ़िराक़ खुद। शायरी के अलावा वहाँ बातों की फुलझड़ियाँ और चिंगारियाँ भी चमकती थीं। जो जाहिर करती थीं कि हम एक महत्वपूर्ण समय में जी रहे हैं। इनमें से ज्यादातर शायर बड़े वतनपरस्त भी थे, स्वतंत्रता संग्राम के जोश से भरे हुए, उनकी शायरी भी आज़ादी और मानवीय गरिमा की शायरी थी। हमारे नेताओं की तकरीरों से ज़्यादा प्रेरणा हमें इन शायरों की शायरी से मिलती।

बेशक फ़िराक़ और दूसरे शायरों के बीच कुछ छोटी-छोटी प्रतिद्वन्दिताएँ भी थी, फिर भी वे एक बेहतरीन और ख़्याल रखने वाले मेज़बान थे जिसे शैतान की वक़ालत करने में मज़ा आता था। उनमें एक ख़ास किस्म की शरारत कूट-कूट कर भरी थी जो जोश मलीहाबादी की तुनकमिजाजी और मजाज़ की हाज़िरजवाबी से मिलकर और निखर जाती थी। ये तिकड़ी किसी ऐसी रचना, जो शायरी होने का खोखला दंभ भरे, उसे तहस-नहस कर सकती थी।

पर 1942 में सेना में शामिल होने के बाद मेरा अपने उस्ताद से संपर्क खत्म हो गया और 22 सालों तक मैंने उन्हें नहीं देखा। 1964 में मैं एक फिल्म बनाने (इंडिया! माय इंडिया) और हिंदुस्तान को फिर से तलाशने के गरज से वापस आया - एक ऐसा देश जिसे मैंने 17 साल पहले तब छोड़ा था जब 1947 में यह टुकड़ों में बँट गया और वास्तव में मुझे और मुझ जैसे लाखों लोग अपने घरों से बाहर धकेल दिए गए। 1964 में फ़िराक़ को यूनिवर्सिटी से अवकाश पाए 5 साल बीत चुके थे पर अभी भी वह बैंक रोड के

अपने उसी घर में रह रहे थे। मैंने उन्हें खुशमिजाज़ पाया, उनकी उत्तेजनापूर्ण मुखरता जस की तस थी। पर, मेरे व्यस्त कार्यक्रम के कारण मैं उनके साथ ज़्यादा समय नहीं बिता पाया।

6 साल और बीत गए। अपने 'मदर गैंजेस' की एक महत्वपूर्ण कड़ी के लिए 1970 में मैं दुबारा इलाहाबाद गया। इस बार फ़िराक़ के साथ वक्त बिताने को मैं कृतसंकल्प था।

मैंने संगम के किनारे 4 लोगों की अपनी यूनिट के लिए 7 दिनों की खातिर प्रयाग रेस्ट हाऊस बुक किया। अपने यूनिट को वहाँ व्यवस्थित करने के बाद मैं 8/4 बैंक रोड की तरफ चल पड़ा। जाड़ों के दिन चढ़ती दुपहरी को मैं फ़िराक़ के बँगले के बाहर खड़ा था। चारों तरफ एक बेतरतीबी और ज़िंदगी का कोई निशान नहीं। मैं जाने-पहचाने रास्तों से होता हुआ 'फ़िराक़ साहब' की टेर लगाता बरामदे तक पहुँचा। कोई जवाब नहीं, मैं आगे के कमरे तक पहुँच गया जो कभी इस धरती के बड़े-बड़े शायरों की आवाज़ और शायरी से गुलज़ार रहता था वहाँ एक भयानक सन्नाटा था। मैंने दूसरे कमरे का दरवाज़ा खोला। यह खाली था सिवाय एक चारपाई के जिस पर एक मुचड़ी हुई रजाई पड़ी थी - 'मैंने धीमे से वो रजाई खींची जिसके नीचे मेरे 75 साला उस्ताद किसी गर्भस्थ शिशु की तरह सिमटे पड़े थे। वे जगे, अतीत से झाँकता एक चेहरा उन्हें ताक रहा था। वे आँख मलते हुए उठ बैठे। मैं झुका और उनके पैर छुए। वे चारपाई से उतरे, खड़े हुए और मुझे गले से लगा लिया। माफ़ी माँगने के से लहजे में उन्होंने कहा - 'रात को सोया नहीं नौकर को भी छुट्टी दे दी है।' नहीं, फ़िराक़ साहब आपने छुट्टी नहीं दी है।' मैंने कहा 'आपका नौकर यहाँ मौजूद है। आप मेरे साथ चल रहे हैं।' इस ख़्याल से उनमें फुर्ती आ गई, उन्होंने जल्दी से अपने बेहतरीन कपड़े पहने, और अपनी पसंदीदा फर की टोपी लगाई और मेरे साथ कार में बैठे, कमोबेश उस बच्चे की तरह जो किसी दावत में जाने को तैयार हो।

ध्यान रहे कि इस समय तक फ़िराक़ को वो सारे सम्मान मिल चुके थे जो हिंदुस्तान उन्हें दे सकता था। 1960 में उस समय के सर्वाधिक महत्वपूर्ण साहित्यिक पुरस्कार साहित्य अकादमी अवार्ड के अलावा, सिर्फ दो साल पहले ही उन्हें पद्मभूषण की उपाधि से भी सम्मानित किया गया था। और जब मैंने उन्हें उनके अकेले घर से अपने साथ लिया, उसके कुछ ही महीने पहले हिंदुस्तान के सबसे बड़े साहित्यिक सम्मान, भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से भी सम्मानित किया जा चुका था। (अपने टिकने की जगह पर उन्हें ले जाते और गाड़ी चलाते हुए) मैं खुद को ये सोचने से रोक नहीं पा रहा था कि अगर ये बँटवारा न हुआ होता तो भी क्या मैं उन्हें इतना ही दयनीय पाता, विशेषकर 1970 में जबकि नेहरू की मौत को 6 साल हो चुके और उनकी धर्म-निरपेक्ष दृष्टि को समाज के ऐसे पक्षों से भी ख़तरा बढ़ता जा रहा है, जिनसे ऐसी उम्मीद नहीं थी।

भारत की महानतम भाषाओं में से एक के महानतम ज़िंदा शायर की किस्मत कमोबेश वैसी ही थी, जैसी उसकी भाषा की : बँटवारे की राजनीति का शिकार। मेरे लिए फ़िराक़ उस दौर के हिंदुस्तान में उर्दू ज़बान की हालात की एक ज़िंदा मिसाल थे जो सिर्फ ज़बानी और खोखले सम्मान की हक़दार थी पर व्यापक परिदृश्य में उसकी सही जगह और अधिकार की कोई मान्यता नहीं थी, खुद को बचाए रखने के लिए इसे अपने हाल पर और शातिर राजनेताओं के रहमो-करम पर छोड़ दिया गया था जो सिर्फ इस वजह से कि पड़ोसी मुल्क के जन्मदाताओं ने उर्दू को 'अगवा' कर अपनी राष्ट्रभाषा घोषित कर दिया था देश की सबसे कीमती धरोहर को मिट्टी में मिलाने पर आमादा थे।

फ़िराक़ ने जो 7 दिन हमारे साथ बिताए उनमें वे उर्दू की खूबसूरती और समृद्धि पर भावपूर्ण बातें करते थे। वे हिंदुस्तान में उर्दू की हैसियत से काफी नाराज़ थे। उर्दू पर मुसलमानों के दावा जताने से भी वे काफी क्षुब्ध थे क्योंकि वे मानते थे कि यह दावा प्रतिक्रियास्वरूप इस भाषा के खिलाफ माहौल बना रहा था। उन्होंने इस ओर भी इशारा किया कि बँटवारे की इस सनक ने पूरे देश को घेर लिया पर उससे पहले कई गैर-मुसलमानों ने इस ज़बान को अपने-अपने अंदाज़ में सजाया है (और वे कुछ नाम गिनाते थे, कवि, जैसे - पंडित दया शंकर कौल 'नसीम', अलेक्जेंदर हीथर्ले 'आज़ाद', जोसफ़ बेन्सले 'फ़ना', पंडित बृज नारायण 'चकबस्त', मुंशी हरगोपाल 'तुफ़्ता', पंडित बाल मुकुंद 'अर्श' मलसियानी, महाराज कृश्न प्रसाद 'शाद', लेखक, जैसे - मुंशी प्रेमचंद, कृश्न चंदर, बलवंत सिंह, महिंदर सिंह बेदी, प्रमुख प्रकाशक जैसे - मुंशी नवल किशोर, विद्वान इतिहासकार जैसे - मुंशी रामबाबू सक्सेना, पत्रकार जैसे - दीवान चंद 'मफ़्तूर' और उर्दू 'ज़माना' कानपुर के संपादक - मुंशी दया नारायण निगम और भी कई। उनका मानना था कि भाषा का मज़हब से कोई ख़ास जुड़ाव नहीं होता और इस जुड़ाव के नाते उसका नुकसान नहीं होना चाहिए कि वे उर्दू की ख़ास पहचान का जीता-जागता सबूत है। उन्हें मिले असंख्य सम्मान उन्हें खुशी तो देते हैं पर ये सब उर्दू को जबरिया और साजिशी तौर पर हाशिए पर धकेले जाने के नुकसान की भरपाई नहीं कर सकते।

प्रयाग रेस्ट हाउस में मैंने गर्व से उनका अपने साथियों से परिचय करवाया ख़ासकर अपनी सहायक डायना वर्ड्सवर्थ से जो महान कवि वर्डसवर्थ की पड़पोती थीं। फ़िराक़ मोहित थे। वर्डसवर्थ उनके पसंदीदा कवियों में से एक थे। दुर्भाग्य से, डायना को फ़िराक की गाढ़ गोरखपुरिया लहजे की अंग्रेजी समझने में मुश्किल होती थी। और ठीक वैसे ही दिक्कत फ़िराक़ को डायना की ज़बान घुमाऊ अंग्रेजी समझने में होती थी। ये एक अनोखी स्थिति थी जहाँ वे वाकई एक-दूसरे को समझे बिना रौ में एक-दूसरे से बातें करते थे, और बीच-बीच में फ़िराक़ मेरी तरफ मुड़ कर कहते : 'क्या बोले जा रही है? किस ज़बान में बातें कर रही है?' जब तक वे एक-दूसरे की ज़बान के आदी नहीं हो गए कि मेरे बिना भी काम चला सकें, मैं उनके अनुवादक के तौर पर काम करता रहा।

हमारी शूटिंग के आख़िर तक फ़िराक़ ने डायना को इस बात से सहमत कर लिया कि इंग्लैंड के पास जो सर्वोत्तम था वे उसकी उत्तराधिकारी हैं और शायरी के लिए मेरी कमज़ोरी को जानते हुए यह तय है कि वर्डसवर्थ से उनका रिश्ता ही वह 'असली' कारण है जिसकी वजह से मैंने उन्हें अपनी सहायक चुना। हक़ीकत में

सच्चाई इससे अलग थी। डायना लंबी-चौड़ी मजबूत काठी की उन अंग्रेजी महिलाओं में से एक थी जो रोमांच और जोखिम के लिए धरती के किसी भी कोने में जा सकती थी। वे हिंदी या उर्दू का एक लफ्ज भी नहीं बोल सकती थीं पर वे सच्चे और दिल की गहराईयों से हिंदुस्तान से प्यार करती थीं, बिना किसी संरक्षक भाव के। उन्होंने मेरी फिल्म 'इंडिया ! माय इंडिया' देखी थी और अपनी सेवायें और लैंड रोवर मेरे लिए उपलब्ध कर दी, लैंड रोवर जिसे मेरे हिसाब से उन्होंने लंदन से हिंदुस्तान तक अकेले चलाया। वे अब तक मेरे सभी रिसर्च और प्रोडक्शन असिस्टेंट में सर्वाधिक व्यवहारिक, कुशल और समर्पित साबित हुईं।

डायना की इंग्लिस्तानी ज़बान को हिंदुस्तानी बीयर का चस्का लग गया था। हर शाम जब सूरज गंगा में डूब रहा होता, हम खुले में अलाव के चारों ओर इकट्ठा होते। यह अलाव रेस्ट हाऊस टीम और कैमरा टीम की साझा कोशिशों का नतीजा होता। हम सब वहाँ मेहनत भरे एक दिन के बाद सही मात्रा में हिंदुस्तानी बीयर का मज़ा लेते। फ़िराक़ के लिए सबसे अच्छी स्कॉच का पूरा इंतज़ाम था जिसका वे भरपूर आनंद लेते। फ़िराक़ अपने पूरे शबाब पर थे। वे खुद का लुत्फ़ ले रहे थे। वे अलग ही फ़िराक़ थे, कुछ दिनों पहले जिस फ़िराक़ को मैंने देखा था, उससे बिल्कुल अलहदा।

वे चुटकुले सुनाते, विभिन्न क्लासिक्स से उद्धरण सुनाते और इन सबके बीच खास फ़िराक़ाना अंदाज़ में घूमती उनकी गर्दन के साथ-साथ उनकी पुतलियाँ भी घूमतीं। एक बार फिर मानो पुराने दिन वापस आ गए थे, सिवाय इसके कि उनके एकालाप को कभी-कभार भंग करने वाले अब युनिवर्सिटी के लड़के नहीं थे बल्कि इंग्लैंड से आई एक मध्यवय की औरत थी जो उन्हें लगातार डॉ. फ़िराक़ ही पुकारती थी। मैं नम्रतापूर्वक ये बताने की कोशिश करता था कि फ़िराक़ किसी विषय के डॉक्टर नहीं हैं, पर वे मुझे यह कहकर किनारे कर देतीं कि यह मेरी समस्या है, उसकी नहीं। ये ज़िंदा शामें रात के खाने तक रौशन रहतीं, जिसके बाद डायना और दूसरे सभी साथी सोने चले जाते, और मैं और फ़िराक़ पुराने दिनों की बातें करते बैठे रहते।

उन्हें अपने दोस्तों की कमी खलती थी। वे अक्सरहाँ अपना ग़म बयान करते। उर्दू के अवसाद को वे बँटवारे की सर्वाधिक दुखद विरासत मानते थे। उन्होंने हिंदुस्तान छोड़कर पाकिस्तान में बसने के लिए जोश मलीहाबादी को कभी नहीं माफ किया। उर्दू, हिंदू-मुस्लिम साझेपन का सर्वाधिक मुखर प्रतीक है। वास्तव में, जैसा कि वे कहते थे कि न सिर्फ हिंदू-मुसलमान बल्कि सिख, जैन, ईसाई और पारसी तथा दूसरों ने भी इस अनोखी हिंदुस्तानी विरासत को समृद्ध बनाने में अपना-अपना योगदान दिया। वे कहते थे उर्दू सिर्फ हिंदुस्तान, अपने कुदरती घर में ही फल-फूल सकती है और वे आने वाले उस दिन का तसव्वुर करते (इस बात का असर लिए बिना कि शायद वे तब तक ज़िंदा न रहें) जब ये दीवारें गिर जाएँगी और इस बनावटी बँटवारे से अजनबी बन गए लोगों का एक-दूसरे से दोस्ताना बनेगा और वे उनकी प्यारी उर्दू ज़बान को नई ज़िंदगी देंगे, जिसे वे डॉ. गोपीचंद नारंग, कृश्न चंदर, बलवंत सिंह, जगन्नाथ आज़ाद, महिंदर सिंह बेदी जैसे दूसरे लोगों के सहारे मिलकर अपनी लेखनी और पैरवी के सहारे ज़िंदा रखने की कोशिश कर रहे थे। अपने ख़ास शरारती अंदाज़ में वे कहते : क्या कुछ मुसलमानों का नाम जोड़ना भी ज़रूरी है।

पर वे मुझे भरोसा दिलाते कि इस बीच उर्दू फिल्मों, मुशायरों, गानों और ग़ज़लों में ज़िंदा रहेगी और तहज़ीब याफ्ता नफ़ीस बातचीत में भी (जिसके वे उस्ताद थे) जब तक कि हिंदुस्तान की सरकार परिपक्व हो जाए और यह महसूस करने लगे कि हिंदुस्तान की दूसरी भाषाओं की तरह उर्दू को भी उसी मदद और हौसलाआफ़जाई की ज़रूरत है। वे कहते थे कि उर्दू के बिना हिंदुस्तानी का काम नहीं चल सकता क्योंकि जब भी आपके पास कहने को कुछ खूबसूरत होगा, उर्दू इसे पेश करने का सुंदरतम माध्यम की शक्ल में दरपेश होगी। और तब वे ग़ालिब के अपने पसंदीदा शेरों में से एक सुनाते -

हर चंद हूँ मुशाहिद-ए-हक़ की गुफ़्तगू
बनती नहीं है बाद-ओ-साग़र कहे बग़ैर

और उर्दू का प्याला इस नशीली शराब से लबालब है, वे कहते, मेरे लिए यह इशारा होता कि मैं उन्हें उनका जाम दुबारा भरूँ और उनसे उनके कलाम, उनकी खुद की कविता सुनाने का आग्रह करूँ, फ़िराक के मेरे सबसे पसंदीदा कलामों में से एक से माहौल तैयार करते हुए

'शामे-ग़म कुछ उस निगाहे-नाज़ की बातें करो
तीरगी बढ़ती चली है राज़ की बातें करो'

अपने उस समय के भावों को लफ़्ज़ों में बयान करना मेरे लिए मुश्किल है। ये है वो महान शायद अपने ख़ुद के कलामों को पढ़ता और उनका लुत्फ़ उठाता और मैं इस सोच में मगन कि इससे पहले उन्हें शायद ही कोई इतना लुत्फ़ लेने वाला श्रोता मिला होगा। मैं खुद को एक ही साथ एक विनम्र चेला महसूसता जो अपने गुरु के कदमों में बैठा है, और एक ज़रा सा बादशाह अक़बर भी जिसका मनोरंजन अबुल फज़ल, फैज़ी और बीरबर सब एक की शक्ल लेकर कर रहे हों।

प्रयाग रेस्ट हाउस का हमारा यह प्रवास शूटिंग शेड्यूल ख़त्म होने के साथ ही अपने अंत पर आ गया था। कैम्प उजाड़ने के बाद, हमने फिराक़ को 8/4 बैंक रोड पर उनके वफादार नौकर के हवाले किया। जब उस शाम हमने एक-दूसरे को अलविदा कहा, हल्की-हल्की बारीश की बूँदें गिर रही थीं। बारिश के उस पर्दे के पीछे अपने सामने के कमरे में उन्हें गायब होते मैं देख सकता था और उन्हें सोफ़े में धँसते, अपने अकेलेपन से व्याकुल होते। ये अकेलापन जिसने उनकी कुछ सबसे खूबसूरत शायरी को प्रेरणा दी, और उसने जिन क़लामों की शक्ल ली वो आज मुझे सोहबत देते हैं।

मैं अक्सरहाँ शाम को हाथ में गिलास लिए बैठता हूँ और अपने उस खूबसूरत गुरु के बारे में सोचता हूँ जिन्होंने ऐसे नाजुक, मुलायम कलाम लिखे

शाम भी थी धुँआ-धुँआ, हुस्न भी था उदास-उदास
दिल को कई कहानियाँ याद सी आके रह गईं।

सभी प्रकार के आतंकवाद के विरुद्ध एकजुटता

■ वंदना शिवा

18 सितंबर। अमेरिका में 11 सितंबर के आतंकवादी हमले के पीड़ितों के साथ एकजुटता दिवस के रूप में मनाया गया।

पेंटागन और विश्व-व्यापार केंद्र के हादसे में मारे गए लोगों की याद में 10.30 बजे लाखों लोगों ने 2 मिनट का मौन रखा, मैं उसमें भी शरीक थी।

लेकिन मैंने उन अन्य लाखों लोगों के बारे में भी सोचा जो आतंकवाद और हिंसा की अन्य कार्रवाइयों के शिकार हैं। और मैंने हिंसा के सभी स्वरूपों के प्रतिरोध के अपने संकल्प को दोहराया।

18 सितंबर को 10.30 बजे मैं उड़ीसा में काशीपुर जिले के झोदियाशाही गांव में लक्ष्मी, रइबारी और सुरनाम के साथ थी। लक्ष्मी का पति धाबी झोदिया हाल ही में भुखमरी से मरने वाले 20 आदिवासियों में एक था।

उसी गांव में भुखमरी ने सुबर्णा झोदिया को भी लील लिया था। उसके बाद हम बिलामल गांव में सिंगरी से मिले जिसके पति साधा, बेटे सूरत और पायली एवं पुत्रबधू सलामी भी भूख से मौत के शिकार हो चुके थे।

भूखों को जान-बूझ कर भोजन से वंचित रखना विश्व बैंक के ढांचागत समायोजन कार्यक्रम का अहम् पहलू है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली को समाप्त करना विश्व बैंक की एक प्रमुख शर्त है।

खर्च में कटौती के नाम पर इसको उचित ठहराया गया था। लेकिन भोजन में रियायत का बजट 1991 में रुपये 2800 करोड़ से बढ़ कर 2001 में रुपये 14,000 करोड़ हो गया। अनाज के रखरखाव का खर्च बढ़ गया, क्योंकि बैंक भोजन अनुदान को खत्म करना चाहती थी। परिणाम स्वरूप खाद्य सामग्री के दाम बढ़ गए, सार्वजनिक वितरण प्रणाली से खरीददारी में कमी हुई और भंडारण की समस्या खड़ी हो गई। राष्ट्र की खाद्य सुरक्षा धराशायी हो रही है।

ऐसे मुल्क में जहां छः करोड़ टन अनाज गोदामों में सड़ रहा है, वहां भूख से मरते आदिवासी परिवारों के बीच रहते हुए मुझे वे आर्थिक नीतियां, जो लोगों को गरीबी और भुखमरी के कगार पर ढकेल रही हैं, आतंकवाद का ही एक स्वरूप प्रतीत हुई।

महाराष्ट्र, राजस्थान और उड़ीसा में भुखमरी से होने वाली मौतें हमारी खाद्य प्रणाली के ध्वस्त होने के लक्षण हैं। काशीपुर प्राकृतिक संपदा से परिपूर्ण था। यहां भुखमरी का नामोनिशां नहीं था। यह प्रकृति और आदिवासी समुदायों के विरूद्ध हिंसा का परिणाम है। यह सर्वव्यापी राज्य द्वारा उद्योग और निजी कारपोरेशनों के लिए आदिवासियों को उनके संसाधनों से बेदखल करने की क्रूर नीतियों का परिणाम है जिसके तहत बेदखल आदिवासियों को सुरक्षा और सुविधा प्रदान करने के कोई प्रावधान नहीं हैं।

काशीपुर एवं अन्य क्षेत्रों में भुखमरी से होने वाली मौतें, क्षेत्र के संसाधनों की पर्यावरणीय लूट, आर्थिक सुधार नीतियों के तहत भोजन-सुरक्षा के उन्मूलन और मौसम में परिवर्तन के कारण दो साल लगातार सूखा और उसके बाद इस साल गैर-मौसमी अधिक बारिश की वजह से फसलें नष्ट हो जाने का परिणाम हैं।

बीस साल पहले लुगदी और कागज उद्योग ने काशीपुर के जंगलों को तहस-नहस कर दिया। आज जड़ी-बूटियां अनाच्छादित हो चुकी हैं और कागज उद्योग आंध्र प्रदेश से सफेदा ले आ रहा है।

लुगदी उद्योग के आतंकवाद ने क्षेत्र में तबाही मचा दी है। अब विशालकाय खनन कंपनियों-हाइड्रो ऑफ नार्वे, अल्मान ऑफ कनाडा, भारत की इंडिको, बाल्को/स्टर्लाइट ने आतंकवाद की नई लहर पैदा कर दी है। उनकी निगाहें काशीपुर की अलौकिक पहाड़ियों की बाक्साइट पर हैं। बाक्साइट से अल्यूमुनिमय का उत्पादन होता है और अल्यूमुनियम कोकाकोला के डब्बों और लड़ाकू जहाजों के निर्माण में काम आता है।

फर्ज करो प्रकृति द्वारा प्रत्येक पर्वत सहस्राब्दियों में निर्मित एक विश्व व्यापार केंद्र है। जरा सोचिए, दुनिया में 11 सितंबर की त्रासदी से भी भयंकर कितनी त्रासदियां उद्योग और बाजार की कच्चे माल की भूख को मिटाने के लिए हर रोज घटित हो रही हैं। हमने अपने शहर - दून घाटी में खनन उद्योग के पर्यावरणीय आतंकवाद को 1983 में रोक दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने खदानों के क्रियाकलाप पर रोक लगा दी और कहा कि जीवन के लिए खतरनाक व्यापार को बंद कर देना चाहिए। लेकिन भूमण्डलीकरण की नीतियों की वातावरणीय अनियंत्रीकरण ने हमारी पर्यावरणीय उपलब्धियों को निरस्त कर दिया।

खनन का 'उदारीकरण' हो चुका है और कारपोरेशनों में खनिजों के उत्खनन के लिए होड़ मच गई है। अल्यूमुनियम कंपनियों को काशीपुर के आदिवासियों की जमीनें चाहिए।

लेकिन काशीपुर के आदिवासी अपनी जमीनें छोड़ने को

तैयार नहीं हैं। वे अपनी जमीन और जगह की सुरक्षा की लड़ाई लड़ रहे हैं एक अहिंसक संघर्ष प्रकृति के लोगों की ज़िंदगी का संघर्ष। 18 सितंबर की रैली में, आंदोलन में शरीक एक बुजुर्ग महिला मुक्ता झोदिया ने कहा, 'धरती हमारी मां है। हम उसी की कोख से पैदा हुए हैं। यह जमीन हमें ईश्वर और सृष्टि ने प्रदान की है। सरकार को हमारी जमीनें छीनने का कोई हक नहीं है।'

इससे लोगों के संसाधनों की लूट शुरू हुई। यह भी एक तरह का आतंकवाद है कारपोरेट आतंकवाद।

मैं इस कारपोरेट आतंकवाद के पीड़ितों के साथ एकजुटता अभिव्यक्त करने गई थी। यह आतंकवाद 200 गांवों की आजीविका के आधार के लिए खतरा ही पैदा नहीं कर रहा था बल्कि 16 दिसंबर 2000 को पुलिस गोलीबारी से लोगों की जानें ले चुका था।

पुलिस गोलीबारी में मारे गए लोगों में अभिलाष भी था। उस समय उसकी पत्नी, सुबर्जा झोदिया गर्भवती थी। जब मैकांच में मैं उनसे मिलने गई तो वह अपने दरवाजे पर अपनी नन्हीं बेटी को गोद में लिए बैठी थी। उसका जन्म अपने पिता की नृशंस हत्या के बाद हुआ था। मैंने बच्ची का नाम पूछा तो उसने मुझसे उसका नामकरण करने को कहा। मैंने उसका नाम शक्ति रखा शांतिपूर्ण स्वरूप में शक्ति समाहित करने को कहा अपने अंदर ऐसी शक्ति पैदा करने के लिए जिस से उसके पिता और उनके आदिवासी साथी खनन कंपनियों और पुलिस-राज्य के आतंकवाद के विरूद्ध दशकों से प्रतिरोध का संघर्ष जारी रखे हैं और हर प्रकार के आतंकवाद के विरूद्ध एक सम्मिलित शक्ति।

पिछले 4 दशकों में बांधों से बेघर हुए 5 करोड़ आदिवासी भी आतंकवाद के शिकार हैं उन्हें तकनीकी विज्ञान और विनाशकारी विकास के आतंक का सामना करना पड़ रहा है। उड़ीसा में महाचक्रवात में मरने वाले 3 करोड़ लोग और भविष्य में मौसम परिवर्तन तथा जैविक ईंधन के प्रदूषण के चलते बाढ़, सूखा एवं चक्रवात की विभीषिका और भयावह होगी। राष्ट्रपति बुश पर्यावरणीय आतंकवादी हैं, क्योंकि वह क्योटो प्रोटोकॉल पर हस्ताक्षर करने से इंकार करते हैं।

सिएटल में नागरिकों ने विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू टी ओ) का नाम विश्व आतंकवादी संगठन (वर्ल्ड टेररिस्ट ऑर्गनाइजेश्न) रखा, क्योंकि इसके कानून करोड़ों लोगों को जीवन और आजीविका से वंचित करते हैं।

11 सितंबर की घटनाओं ने हमें अवसर प्रदान किया है कि सभी प्रकार के आतंकवाद - सैनिक, तकनीकी, आर्थिक और राजनैतिक - को समाप्त किया जाए। आतंकवाद का खात्मा युद्धोन्माद से नहीं हो सकता, क्योंकि इससे भय और असुरक्षा पैदा होती है जो आतंकवाद को जन्म देती है। 'आतंकवाद के विरूद्ध युद्ध' हिंसा का दुष्चक्र निर्मित करेगा। इससे शांति और सुरक्षा की स्थापना नहीं हो सकती। अमेरिका में अंधराष्ट्रवादी मदांधता अभी ही पैदा हो चुकी है जिसकी लपेट में भारतीयों, एशियाइयों और अरबों पर जानलेवा हमले हो रहे हैं। हर तरह के कट्टरपंथी बदले की भावना से हुंकार रहे हैं।

आतंकवाद का खात्मा शांति, जनतंत्र और लोगों की सुरक्षा की संस्कृति से ही किया जा सकता है। 11 सितंबर के बाद की दुनिया को सभ्यता और बर्बरता तथा जनतंत्र और आतंकवाद के बीच युद्ध की दुनिया के रूप में परिभाषित करना अनुचित और गलत है। यह दरअसल, एक-दूसरे की मनोदशा को प्रतिबिंबित करने वाले आतंकवाद के दो स्वरूपों के बीच युद्ध है। ऐसी मनोदशाएं, जो एकल-संस्कृति की ही परिकल्पना कर सकती हैं और विविधता का विनाश करती हैं जो शांति की मूलभूत शर्त है। दोनों ही हिंसा की संस्कृति के वर्चस्व के हिमायती हैं। वे एक ही तरह के हथियार और तकनीकों का इस्तेमाल करते हैं। हिंसा और आतंक की वरीयता के अर्थों में दोनों एक से हैं और हर जगह दोनों तरह के आतंकवाद के शिकार होते हैं मासूम लोग।

वास्तविक संघर्ष दुनिया भर के शांति और सुरक्षा के हिमायती लोगों तथा हिंसा और आतंक की शक्तियों के बीच हैं, जो उन्हें शांति और सुरक्षा से वंचित रखती हैं।

झोदिया शाही गांव के आदिवासियों ने अपने पूजास्थल - एक चट्टान - पर मेरे लिए दिया जला रखा था। भौतिक माप में तो ये पूजास्थल विश्व व्यापार केंद्र के गुंबदों की तुलना में बहुत छोटे हैं, किंतु उनकी आध्यात्मिक गहनता बहुत अधिक है, क्योंकि उनमें शांति का ब्रह्माण्ड समाहित है। शांति - धरती के साथ शांति, लोगों के साथ शांति और लोगों के बीच शांति। इसी शांति की संस्कृति को हमें पुनर्जीवित और प्रसारित करना है।

सारी दुनिया ने विश्व व्यापार केंद्र को तो ध्वस्त होते देखा लेकिन अन्याय, लालच और भूमंडलीकरण की ताकतों द्वारा लाखों पूजास्थलों, घरों और खेतों के विनाश की तरफ नहीं ध्यान दिया।

काले मंगलवार के पीड़ितों और मृतकों को याद करते हुए हमें धरती पर हमारे भविष्य की संभावनाओं को खतरे में डालने वाले आतंकवाद और हिंसा के अन्य स्वरूपों से लाखों अदृश्य पीड़ितों के साथ भी एकजुटता दिखाना चाहिए। इस क्रूर त्रासद क्षण को हम शांति की संस्कृति के निर्माण में तब्दील कर सकते हैं।

(साभार : अमन की तलाश में इंसानियत की आवाज़ें)

फाँसी के तख्ते से
जूलियस फूचिक

_चेकोस्लोवाकिया का क्रांतिकारी_

जूलियस फूचिक ने यह पुस्तक नात्सी जल्लाद के फन्दे की छाया में लिखी थी। इसकी पांडुलिपि के रूप से ही इसके लेखक के अदम्य साहस और अनोखी सूझबूझ का प्रमाण मिल जाता है। इसकी पांडुलिपि हैं कागज की स्लिपें जिन पर पैंसिल से लिखा हुआ है। बाद में यही स्लिपें एक हमदर्द चेक सन्तरी की मदद से पांक्राट्स, प्राग, के गेस्टापो जेल से एक-एक करके चोरी-चोरी बाहर लायी गयीं। फूचिक, जिसे अपने आप से छल करना क़तई मंजूर नहीं था, जानता था कि वह इस खतरों भरी किताब को समाप्त नहीं कर सकेगा। लेकिन तब भी उसका यह विश्वास अपनी जगह पर बिल्कुल दृढ़ था कि उसके अपने देश के लाखों-करोड़ों लोग और दूसरे देशों के फासिस्त-विरोधी जन जल्द ही उसकी इस पुस्तक का उसके ही शब्दों में 'सुखद अंत' लिखेंगे।

...पिछले अंक से जारी

चित्र और रेखाएँ

इतिहास के इस युग से जो लोग गुज़र चुके हैं, मैं उनसे एक बात कहना चाहता हूँ- उन लोगों को कभी मत भूलना जो इस संघर्ष में हिस्सा ले रहे हैं। अच्छों और बुरों दोनों को याद रखना। जितनी भी साखी हो सके उन लोगों के बारे में बटोरना जिन्होंने तुम्हारी खातिर और खुद अपनी खातिर जान दी। यह वर्तमान, समय के फेर से, बीते दिनों का इतिहास हो जायगा; आने वाली सदियां इसे एक महान युग कहेंगी जिसमें ऐसे वीरों ने इतिहास की सृष्टि की जिनका नाम कोई नहीं जानता। मगर उन सबके नाम थे, आकृतियां थीं, आशाएं और आकांक्षाएं थीं। इसीलिए उनमें जो छोटे से छोटा है उसके कष्ट और उसकी यातनाएं भी उन बड़े से बड़े लोगों से कम नहीं हैं जिनके नाम इतिहास में सुरक्षित रहेंगे। मैं सिर्फ यह चाहता हूँ कि तुम उन सबके संग निकटता का अनुभव करो, मानों तुम उनको जानते हो, मानों वे तुम्हारे अपने परिवार के लोग हों, मानों उनकी जगह पर तुम खुद हो।

वीरों के कुटुम्ब के कुटुम्ब मौत के घाट उतार दिये गये हैं। उनमें से किसी को चुन लो और उसको अपने बेटे-बेटी की तरह प्यार करो; उन पर वैसा ही गर्व करो जैसा कि तुम किसी महान् व्यक्ति के लिए करते जो भविष्य के लिए जीया। वे सभी जो भविष्य के लिए जीये, जो भविष्य के प्रति आस्थावान थे, जिन्होंने भविष्य को सुन्दर बनाने के लिए अपने प्राणों की बलि चढ़ायी, वे सभी इस योग्य हैं कि उनकी प्रस्तर-मूर्तियाँ बनवाई जायें। और वे जिन्होंने अतीत की गर्द से क्रांति की बाढ़ के खिलाफ मेंढ़ बांधने की कोशिश की, वे सड़ती हुई लकड़ी के पुतले हैं, उनके कन्धों पर ऊंचे-ऊंचे रुतबों के चमकदार निशान चाहे जितने हों। इन लोगों को भी, इनकी सारी दयनीय क्षुद्रताओं, क्रूरता और हास्यास्पदता समेत जीती-जागती शकल में देखना जरूरी हैं क्योंकि वे भी हमारी भावी कल्पना के उपादान हैं।

जेलेनिक दंपती

जोजेफ़ और मेरी। पति बस का कंडक्टर, पत्नी घर की नौकरानी। क्या ही अच्छा हो कि तुम उनका घर जाकर देखो। चिकना, सादा, आधुनिक फर्नीचर, एक बुककेस, एक छोटी-सी मूर्ति, दीवार पर चित्र और कमरे की स्वच्छता, असंभव स्वच्छता। आप कहेंगे कि मेरी का सारा अस्तित्व इसी घर में बंद है और वह बाकी दुनिया के बारे में कुछ नहीं जानती। लेकिन ऐसा नहीं है, उसने बरसों कम्युनिस्ट पार्टी में काम किया है और सामाजिक न्याय के सपने देखे हैं। उन दोनों ने लगन से, मगर खामोशी के साथ, काम किया- और जब दुश्मन के आक्रमण ने उनसे बड़ी कुर्बानियों की माँग की तब वे पीछे नहीं हटे।

उनको छिपे-छिपे काम करते तीन बरस हो गये थे। तभी एक रोज पुलिस दरवाज़े तोड़कर उनके घर में घुस आयी...

वे एक दूसरे के कंधे से कन्धा मिलाये खड़े, उनके हाथ सिर के ऊपर उठे हुए- और वहाँ एक दूसरे को छूते हुए।

मई 19, 1943

आज वे मेरी गुस्टिना को 'काम करने के लिए' पोलैंड पकड़ ले जायेंगे। गुलामी की ज़िन्दगी, टाइफस की मौत। उसे अब कुछ हफ्ते ही और ज़िन्दा रहना है, शायद दो-तीन महीने। और मेरा मामला तो अदालत के सुपुर्द कर दिया गया है। अभी शायद और चार हफ़्ते पांक्राट्स में सवाल-जवाब का दौर चलेगा, फिर दो-तीन महीने और, मौत तक। मेरी ये टिप्पणियाँ कभी पूरी न होंगी। अगर अगले कुछ दिनों में मौका मिला तो मुझसे जितना बन पड़ेगा लिखने की कोशिश करूंगा। लेकिन आज मैं न लिख पाऊँगा। आज मेरे मन पर गुस्टिना छायी हुई है। गुस्टिना--- एक नेक और मुहब्बत की गरमी से गरम इंसान, जीवन में मेरी सच्ची अनमोल दोस्त। मेरा जीवन, जिसमें गहराई तो थी मगर शान्ति? शायद कभी नहीं।

लगातार कई शामें मैंने उसे उसके प्यारे गाने गा-गाकर सुनाये हैं। स्टेप्स की वह कुछ नीली-सी घास जो छापेमारों की लड़ाइयों के शानदार किस्से अपनी नर्म आवाज़ में कानों में कह जाती है। एक कज्जाक लड़की की कहानी जो अपने पति के कन्धे से कन्धा मिलाकर आज़ादी के लिए लड़ी, और फिर कैसे एक लड़ाई के बाद फिर कोई उसे ज़मीन से उठा न सका। ओह, मेरी जांबाज दिलेर दोस्त--- उस छोटी-सी जान में और उसके उस खूबसूरत तराशे हुए मुखड़े में कितनी ताकत छुपी हुई है! उन बड़ी-बड़ी, भोली-भोली, बच्चों-जैसी आंखों में कैसी असीम कोमलता है! इंकलाब की लड़ाई कभी थमी नहीं और उसकी खातिर हमें अकसर एक-दूसरे से अलग होना पड़ता। यही कारण था कि सारी ज़िन्दगी हम एक-दूसरे के प्रेमी-प्रेमिका बने रहे और पहले आलिङ्गन और पहले मिलन के वे उत्तप्त क्षण सैकड़ों बार हमारी ज़िन्दगी में फिर-फिर आये। हमारे दो दिलों की धड़कन एक है और वह एक ही साँस है जो हम दोनों खुशी के क्षणों और परेशानी के घण्टों में लेते हैं, उस वक्त जब कि आवेग हमारे अंग-अंग से छलका पड़ता है और उस वक्त भी जब कि दुःख से हमारी एक-एक रग सर्द होती है।

बरसों हमने एक साथ काम किया है और बरसों हमने एक-दूसरे की मदद की है जैसे कि सिर्फ एक दोस्त दूसरे दोस्त की कर सकता है। बरसों उसी ने सबसे पहले मेरी रचनाओं को पढ़ा है और उनकी आलोचना की है; मुझे लिखने में दिक्कत होती है जब तक मुझे यह एहसास न हो कि उसकी आँख मुझ पर लगी है। बरसों हमने उन संघर्षो में एक दूसरे का साथ दिया है जिनसे हमारी ज़िन्दगी मालामाल रही है। बरसों हमने एक दूसरे के हाथ में हाथ देकर इस प्यारी धरती की सैर की है। हमारी ज़िन्दगी में परीक्षा की घड़ियां भी बहुत आई और बहुत बड़ी-बड़ी खुशियां भी क्योंकि हम उस धन से मालामाल थे जो कि ग़रीबों के पास होता है वह धन जो हमारे अन्दर है।

गुस्टिना?---उसको देखना चाहते हो, लो :

साल भर हुआ, जून का महीना आधा बीत चुका था, मार्शल लॉ लगा हुआ था। मेरी गिरफ्तारी के छः हफ्ते बाद उसने पहले-पहल मुझे देखा, उन मनहूस तकलीफदेह दिनों के बाद जब वह अकेली अपनी कोठरी में मेरी मौत की अफ़वाहों के खिलाफ लड़ती रहती। मुझे डिगाने के खयाल से वे उसे मेरे यहां ले आये।

हम दोनों को आमने-सामने खड़ा करके विभाग के अध्यक्ष ने गुस्टिना से कहा--- इनको समझाओ। इनसे कहो कि व्यर्थ ज़िद न करें। अगर इन्हें अपनी फिक्र नहीं है तो कम-से-कम तुम्हारी फिक्र तो होनी चाहिए। तुम लोगों को सलाह-मशविरा करने के लिए एक घण्टा दिया जाता है। अगर उसके बाद भी तुम लोग अपनी ज़िद पर अड़े रहे, तो आज रात को तुम्हें गोली मार दी जायेगी, तुम दोनों को।

गुस्टिना ने अपनी निगाहों से मुझे थपकियाँ दीं और बहुत सादगी से कहा--- मिस्टर कमीसार, मेरे लिए यह कोई धमकी नहीं है। यह मेरी अन्तिम और सबसे बड़ी लालसा है। अगर आप इन्हें गोली मारें तो मुझे भी मार दीजिएगा, कृपा होगी।

यही है मेरी गुस्टिना, असीम प्यार, अपार शक्ति। गुस्टिना, वे हमारी जान ले सकते हैं, मगर वे हमारा प्रेम और हमारा स्वाभिमान नहीं ले सकते।

लोगों, तुम क्या सोचते हो कि अगर यह सब तूफान गुज़र जाने के बाद फिर कभी हमारा मिलन हुआ तो हमारी ज़िन्दगी की क्या शकल होगी? फिर आज़ादी की हसीन ज़िन्दगी में मिलना, जिसमें सबकी आज़ादी से एक नयी दुनिया का जन्म हो रहा है, जब कि हमें वह चीज़ मिल जायेगी जिसकी कि हमें चाह थी, जिसके लिए हमने इतने धीरज से काम किया और अब जिसके लिए हम मौत को गले लगाने जा रहे हैं? मरने के बाद भी तुम्हारे उस महान सुख के एक अंश में हम जीवित रहेंगे क्योंकि उसके लिए हमने अपने प्राणों की आहुति दी है। उसी में हमारी खुशी है; मगर अलग होना बड़ा कठिन है।

लेकिन उन्होंने हमें एक-दूसरे से अलविदा न होने दिया, गले न मिलने दिया, यहां तक कि हाथ भी नहीं मिलाने दिया। पर हां, इतना है कि जेल के कुछ हमदर्द कर्मचारियों के जरियो जो पांक्राट्स और कारलोवो स्क्वायर के दरमियान खबरें लाते ले जाते हैं, हमें कभी-कभी एक दूसरे की किस्मत के बारे में पता चल जाता था।

तुम जानती हो गुस्टिना और मैं जानता हूँ कि अब शायद कभी भी हम लोग एक दूसरे को न देख सकेंगे। लेकिन तब भी तुम्हारी आवाज़ दूर से मुझे पुकारती हुई सुनाई पड़ती है : अगली मुलाकात तक के लिए विदा, प्यारे, विदा...

उस दिन तक के लिए विदा गुस्टिना, विदा... मेरी गुस्टिना!

मेरी आखिरी वसीयत

मेरे पास अपना पुस्तक-संगह छोड़ और कुछ न था। गेस्टापो ने उसे भी तहस-नहस कर दिया।

मैंने सांस्कृतिक और राजनीतिक सवालों पर कई लेख लिखे, साहित्य और नाटक की बहुत सी आलोचनाएं और समीक्षाएं लिखीं, पत्रकारिता का बहुत सा काम किया। इन रचनाओं में से बहुत सी ऐसी थीं जो बिल्कुल सामयिक महत्व की थीं और दिन बीतने के साथ वे खत्म भी हो गयीं। उन्हें यों ही पड़ा रहने दो। कुछ हैं जो ज़िन्दा हैं। मुझे उम्मीद थी कि गुस्तिना उन्हें छपायेगी, लेकिन अब उसकी कोई उम्मीद नहीं है। इसलिए मैं अपनी कामरेड लाडया स्टॉल से दरखास्त करता हूँ कि वह उनमें से सबसे अच्छी चीजों को ले और उन्हें पाँच किताबों में बांटे :

1. राजनीतिक लेख और बहसें।
2. घरेलू समस्याओं पर चुनी हुई रिपोर्टें।
3. सोवियत यूनियन-विषयक टिप्पणियां।
4. और 5.) साहित्य और नाटक-संबंधी आलोचनाएं और लेख।

अधिकांश लेख ट्वोरबा (रचनात्मक कला) और रूड प्रावो (लाल अधिकार) में मिलेंगे, बाकी क्मेन, प्रामेन, प्रोलेट्कल्ट, दोबा, द सोशलिस्ट, आवांगार्द और दूसरे साहित्यिक और राजनीतिक पत्रों में मिलेंगे।

जूलियस ज़ेयर पर मेरा बड़ा लेख गिरगाल के पास है। गिरगाल एक प्रकाशक है। जिस हिम्मत से उसने जर्मनी के कब्जे के दिनों में मेरा 'बोज़ेना नेमकोवा' छापा, उसकी वजह से मैं उसे प्यार करता हूँ। साबिनवाले लेख का कुछ हिस्सा और जान नेरूदा पर मेरे नोट उस मकान में कहीं छुपाकर रक्खे होंगे जिनमें जेलिनेक, विसूशिल और सुचानेक रहा करते थे। इनमें से ज़्यादातर मर चुके हैं।

मैंने अपनी इस पीढ़ी के बारे में एक उपन्यास शुरू किया था। उसके दो अध्याय मेरे माँ-बाप के पास हैं, बाकी शायद नष्ट कर दिया गया। गेस्टापो वाली फाइल के कागज़ात के संग मैंने कई कहानियों की पांडुलिपियां देखीं थीं।

जान नेरूदा के लिए अपना प्रेम मैं साहित्य के किसी ऐसे इतिहासकार के लिए छोड़ जाता हूं जो अभी पैदा नहीं हुआ है। वह हमारा सबसे बड़ा कवि था, उसकी आंखें भविष्य में हम लोगों से कहीं ज़्यादा दूर तक देखती थीं। अब तक उसके बारे में ऐसी कोई आलोचना नहीं निकली है जिसमें उसको पूरी तरह समझा और गुना गया हो। शोषित मज़दूर-श्रेणी के एक व्यक्ति के रूप में उसे नहीं चित्रित किया गया है। वह स्मिचोव के एक छोर पर पैदा हुआ था। स्मिचोव मजदूरों का एक इलाका है और 'समाधि के फूल' का मसाला उसने रिंगहॉफ़र मिल्स के आसपास इकट्ठा किया था। बिना इतनी पृष्ठभूमि के तुम 'समाधि के फूल' से लेकर 'यकुम मई 1890' तक की उसकी कविताओं को ठीक से नहीं समझ सकते। अधिकांश आलोचक--- यहां कि शिल्डा जैसा सुलझा हुआ आलोचक भी--- यह समझते हैं कि नेरूदा पत्रकार की हैसियत से जो काम करता था उससे उसकी काव्य-सृष्टि में बाधा पहुंचती थी। यह बिल्कुल गलत बात है। सही बात तो यह है कि चूंकि नेरूदा पत्रकार था, इसीलिए वह बैलड्स, सॉनेट्स, हिम्ज़ फॉर फ्राइडे डिवोशन्स और सिम्पल मोटिफ़्स जैसी जबर्दस्त चीज़ें लिख सका। पत्रकार का काम थकाने वाला और मन को दूसरी बातों मे उलझाने वाला होता है सही, लेकिन वह व्यक्ति को पाठक के सीधे संपर्क में ले आता है और अगर कोई नेरूदा की तरह सच्चा और ईमानदार पत्रकार हो तो उसे कविता करना भी सिखलाता है। अगर उसने पत्रकार का काम न किया होता तो संभव है उसने कविताओं की बहुत सी पोथियाँ लिख डाली होतीं लेकिन उनमें से कोई भी इस तरह सदियों तक जीवित न रहतीं, जैसी कि उसकी ये कविताएँ रहेंगी। अच्छा हो कि कोई 'साबिना' को अब भी पूरा कर डाले। वह इस योग्य है कि उस पर इतनी मेहनत की जाए।

उनके प्यार और व्यक्तित्व की सरल उच्चता के कारण मेरी इच्छा थी कि मैं अपने माँ-बात की ज़िन्दगी के इन आखिरी दिनों में उन्हें आराम पहुंचा सकता। मेरी बहुत से काम इस उद्देश्य से भी अनुप्रेरित होते थे। अब तो केवल इस आशा का सहारा लेना चाहता हूँ कि मेरे चले जाने से उन लोगों का जीवन बिल्कुल अंधेरा न हो जायेगा। 'काम करने वाला चला जाता है, बस काम सदा जीता है' और मैं सदा उनके साथ रहूंगा उस रोशनी में और उस प्यार की गर्माहट में जो उनके चारों तरफ है।

मैं अपनी बहनों लीबा और वीरा से कहना चाहता हूं कि वे अपने गानों और अपनी हंसी से पापा और अम्मां की ज़िन्दगी के उस घाव को भरने की कोशिश करें जो अब हमारे घर में हो जायेगा। वे दोनों जब हम लोगों से मिलने पेचेक बिल्डिंग में आयी थीं तो बहुत रोयी थीं, लेकिन जीवन का आह्लाद अभी उनमें हैं और इसीलिए हम लोग एक दूसरे को इतना प्यार करते हैं। वे हर तरफ खुशी बिखेरती चलती हैं कोई भी चीज़ कभी उनकी इस खुशी को चुरा न पाये।

मैं हर उस साथी से हाथ मिलाता हूँ जो इस आखिरी लड़ाई के दौर से गुज़र रहा है, और उन साथियों से भी जो हमारे बाद आयेंगे। हम दोनों का ये अंतिम अभिवादन लो, गुस्तिना का और मेरा, हम दोनों जिन्होंने अपना कर्तव्य पूरा किया।

और मैं फिर कहना चाहता हूँ कि हम सुख के लिए लड़े और अब सुख के लिए ही मरने जा रहे हैं। कभी शोक हमारे नाम के संग न जुड़े।

मई 19, 1943) जूलियस फूचिक

मई 22, 1943

दस्तख़त हो गये, मुहर लग गयी। जांच करने वाले जज ने कल मेरा मामला खत्म कर दिया। मेरे मुकदमे की रफ्तार, मैंने जैसा कि सोचा था उससे भी कहीं तेज है। लगता है कि उन्हें किसी बात की बहुत जल्दी है। मेरे ही संग लिडा प्लाशा और मिरेक भी अभियुक्त हैं। गद्दारी से मिरेक को कुछ फायदा न हुआ।

जांच करने वाले जज की ठंडी, भावनाशून्य आंखों में हर चीज अपनी ठीक जगह पर थी, उसका एक-एक शब्द ठीक था--- सारी चीज़ इतनी ठंडी और भावनाशून्य कि हम लोग कांप गये। लेकिन गेस्टापो के हेडक्वार्टर की तो सभी चीज़ों में ज़िन्दगी उबाल खा रही थी; वह डरावनी थीं जरूर लेकिन जिन्दा तो थीं, जिन्दगी का एक हिस्सा तो थीं। वहां पर जोश और उबाल था, एक तरफ सैनिकों का और दूसरी तरफ शिकारियों या दरिन्दों या मामूली डाकूओं का। उस तरफ के कई लोगों में भी एक खास तरह की निष्ठा है। लेकिन इस जांच करने वाले के सामने तो सिर्फ सरकारी कानून था। उसके कोट के कालर पर लगे हुए उस टेढ़े-से लोहे के 'क्रॉस' का संकेत किसी ऐसे विश्वास की ओर था जो उसके दिल में नहीं था। वह एक ढाल थी जिसके पीछे एक छोटा सा दयनीय अफसर छिपा हुआ था, जो सिर्फ इतना चाहता था कि इस दौर में किसी तरह जिंदा रहा जाये। अभियुक्तों के प्रति वह अच्छा है न बुरा। वह न मुस्कुराता है न त्योरियाँ चढ़ाता है। वह सिर्फ एक सरकारी काम को पूरा करता है। उसकी रगों में खून की जगह बहुत ही पतला शोरबा बहता है।

उन्होंने गवाही नकल की, कानून के लंबे-लंबे उद्धरण दिये और दस्तखत कर दिये। शायद छः अभियोग लगाये गये हैं- राजद्रोह, राइख के विरूद्ध षड्यन्त्र, सशस्त्र विद्रोह की तैयारी और पता नहीं क्या-क्या। उनमें से एक ही काफी था, इतनों की तो जरूरत भी न थी।

मैं पिछले तेरह महीनों से अपनी और दूसरों की ज़िन्दगी के लिए लड़ रहा हूँ, अपनी चालों से और अपने जोश से। उनका पार्टी का प्लेटफार्म 'नार्डिक' चालों और चक्रव्यूहों की बात करता है लेकिन मेरा विचार है उस मामले में तो मैंने उन्हें मात दे दी। मेरी हार की अकेली वजह यह है कि धोखेधड़ी के साथ-साथ उनके हाथ में कुल्हाड़ा भी है।

इस तरह वह द्वन्द्व-युद्ध खत्म हुआ। अब प्रतीक्षा शुरू होती है। दो या तीन हफ़्ते, जब तक कि चार्ज-शीट नहीं तैयार होती, फिर राइख की यात्रा, फिर मुकदमा शुरू होने का इंतजार, सजा और सब से आखिर में सौ दिन तक फाँसी का इन्तज़ार। मैं सोचता हूँ कि यही मेरा भविष्य है--- चार या पाँच महीने का भविष्य। इतने वक्त में बहुत सी बातें हो सकती हैं। सारा नक़्शा ही बदल सकता है। शायद। मगर मैं यहाँ पर बैठे-बैठे आखिर कैसे अन्दाज़ लगा सकता हूँ: मेरे पास आखिर क्या साधन है। यह भी संभव है कि बाहर घटनाओं की तेज़ गति हमारे अंत को भी पास ला दे। इसलिए वह भी शायद बहुत मदद न कर सके।

इस लड़ाई और उम्मीद के बीच जो यह दौड़ है इसमें किसकी जीत होगी? दो तरह की मौतों की इस प्रतियोगिता में? कौन पहले आयेगी फासिज़्म की मौत या मेरी मौत? यह क्या सिर्फ मेरा, निजी सवाल है? नहीं; हज़ारों क़ैदी, लाखों सैनिक यही सवाल पूछ रहे हैं। यही सवाल योरोप के और बाकी दुनिया के करोड़ों आदमी पूछ रहे हैं। कुछ में ज़्यादा उम्मीद होती है, कुछ में कम। लेकिन वह सचमुच एक धोखा है। वे भयानक बातें जिनसे पूँजीवाद के पतन ने दुनिया को लथपथ कर दिया है, उनसे सब को बड़े से बड़ा खतरा है। लाखों आदमी मर जायेंगे--- और कैसे अच्छे-अच्छे आदमी--- इससे पहले कि वे लोग जो बच जायेंगे, कहें : मैं जिन्दा हूँ, फाशिज्म मर गया।

अभी यह महीनों की बात है, जल्दी ही कुछ दिनों की बात रह जायेगी। मगर वे सब से निर्मम दिन होंगे। अक्सर मेरी कल्पना में यह बात आती है कि उस अंतिम सैनिक की दशा कितनी करुण होगी जिसे लड़ाई के अन्तिम पल मे अन्तिम गोली सीने में लगेगी। लेकिन कोई न कोई तो वह अन्तिम सैनिक होगा ही। अगर मुझे मालूम हो कि क्रान्ति की इस लड़ाई में मैं वह आखिरी आदमी हो सकता हूँ जो खेत रहेगा, तो मैं अभी इसी वक़्त जाने को तैयार हूँ।

पांक्राट्स में अब मेरे पास इतना थोड़ा वक्त बच गया है कि मैं अपनी टिप्पणियों को अपने मनोनुकूल रूप नहीं दे सकता। मुझे और संक्षेप में अपनी बात कहनी पड़ेगी। इतिहास के युग पर कम ध्यान देना पड़ेगा और व्यक्तियों पर ज़्यादा। उन्हीं का महत्व सबसे अधिक है।

मैंने जेलिनेक दंपती के बारे में कहना शुरू किया था। वे सरल सामान्य लोग थे जिन्हे जीवन के साधारण प्रवाह में देखकर तुम कभी यह न कह सकते कि इनमें वीरों के तत्व हैं। अपनी गिरफ्तारी के समय वे एक दूसरे के कंधे से कंधा मिलाये सटे खड़े थे, उनके हाथ सर के ऊपर उठे हुए थे पति का चेहरा जर्द था और पत्नी की कनपटी के नीचे कुछ वैसी ही तमतमाहट थी जैसी कि तपेदिक के रोगियों में होती है। उसकी आँखों में कुछ भय उतर आया था जब उसने देखा कि किस तरह गेस्टापो ने पाँच मिनट में उसके उस आदर्श घर को तहस-नहस कर दिया। तब उसने धीरे से अपने पति की ओर सिर घुमाया और पूछाः

'अब, जो ?'

जो के पास कभी बात करने को कुछ खास न होता, उसे शब्दों के लिए अटकना पड़ता और बोलने से उसे उत्तेजना होती। अब उसने अत्यन्त आयासहीन और किसी भी तरह की कारुणिकता से मुक्त स्वर में कहा :

'अब हम लोग मरने चलेंगे, मेरी।'

वह चीखी नहीं, काँपी भी नहीं। उसने बहुत नाजुक अन्दाज़ से अपना दाहिना हाथ नीचा किया और उसका हाथ पकड़ लिया, पिस्तौलों का मुँह उनकी तरफ था। इस हरकत से उन दोनों को एक-एक तमाचा खाने को मिला। उसने अपना गाल पोंछा, आक्रमणकारियों को ऊपर से नीचे तक देखा और हलके से व्यंग्य के स्वर में कहा---

'कैसे खूबसूरत नौजवान हैं, 'और फिर आवाज़ चढ़ाते हुए

कहा, 'कैसे खूबसूरत लोग मगर कैसे जानवर।'

उसने उनको ठीक ही समझा था। कुछ घंटे बाद वे लोग उसे 'जाँच कमीसार' के दफ्तर से बेहोशी की हालत में ले गये। उन्होंने उसे मारते-मारते लगभग बेहोश कर दिया था, लेकिन वे उससे एक भी बात निकाल न सके।

न तो तब और न तो और कभी उसने एक भी बात बतायी।

मैं ठीक नहीं कह सकता कि उन दिनों उन दोनों पर क्या बीती जब कि मैं अपनी कोठरी में पेशी के अयोग्य हालत में पड़ा हुआ था, लेकिन मैं इतना जरूर जानता हूं कि इस बीच वे कुछ भी नहीं बोले। वे मेरे आदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे। कितनी बार जेलिनेक की कलाइयाँ टखनों से लगाकर कस दी जातीं और फिर उसे बेतहाशा पीटा जाता। लेकिन वह तब तक ज़बान न खोलता जब तक कि मैं वहाँ पहुँच न जाता और अपनी आँख के इशारे से उसे बतला न देता कि क्या उसे कबूल कर लेना चाहिए जिसमें तहकीकात आगे तो बढ़े।

गिरफ्तारी के पहले से मैं उसे जितना कुछ जानता था उससे मेरे मन में यही धारणा जम गयी थी कि वह बड़ी कोमल संवेदनशील स्वभाव की स्त्री है मगर यह भी है कि गेस्टापो की यातनाओं के इतने लम्बे दौरान में मैंने कभी उसकी आँख में एक आँसू नहीं देखा। उसे अपने घर पर नाज़ था, लेकिन जब बाहर के साथी उसे यह सन्देशा पहुँचाना चाहते कि उन्हें मालूम है कि उसका फर्नीचर किसने चुराया है और उस आदमी पर वह अच्छी तरह निगाह रक्खे है, तो वह जवाब देती :

'भाड़ में जाए फर्नीचर। उसकी फिक्र में वक़्त मत बरबाद करो। उससे कहीं ज़्यादा जरूरी काम करने को पड़े हैं, और अब तो हमारी कमी पूरी करने के लिए तुम्हें और भी दुगना काम करना है। पहले हमें अपने देश का कूड़ा-कर्कट साफ करना है और अगर उस सब के बाद मैं बची रही तो मैं आसानी से खुद अपना घर ठीक कर लूँगी।'

एक दिन वे जेलिनेक दम्पती को ले गये, पति को एक जगह, पत्नी को दूसरी जगह। उन पर क्या बीती, यह पता लगाने की मैंने बहुत कोशिश की लेकिन बेकार। गेस्टापो के हाथ में पड़ने पर लोग अचानक न जाने कहाँ गायब हो जाते हैं--- एक हज़ार कब्रिस्तानों में बिखर जाते हैं। एक दिन इन भयानक बीजों से कैसी फसल तैयार होगी!

उसका अन्तिम संदेश था :

'चीफ, बाहर उन लोगों को कहलवा दो कि मेरे लिए अफसोस न करें, और न मुझ पर जो गुजरी उससे डरें। मैंने एक मज़दूर की हैसियत से अपना कर्तव्य पूरा किया और उसी तरह मरूँगी भी।'

वह एक 'घरेलू' औरत थी। उसने बहुत शिक्षा भी नहीं पायी थी और न वह उस वीरतापूर्ण सन्देश को ही जानती थी जो सदियों पहले दिया गया था :

यात्री लेसिडिमोनियनों से कह देना कि हम मरे पड़े हैं--- जैसा कि न्याय का आदेश था।

विसूशिल दंपती

उसी इमारत में, जेलिनेक के ठीक बगल में वे रहते थे। उनका नाम भी जोज़ेफ और मेरी था। एक छोटे से अफसर का परिवार, अपने पडोसियों से ज़रा ज़्यादा पुराना। वह सत्रह बरस का था, नूजुल का एक लंबा-तगड़ा नौजवान, जब उन्होंने उसे फौज में भरती किया और पहले महायुद्ध में लड़ने भेजा। कुछ हफ़्तों में वह लौट आया, उसका घुटना टूट गया था, जो फिर कभी ठीक नहीं हुआ। सबसे पहले उनकी मुलाकात ब्रनो के एक अस्तपाल में हुई जहां पर वह नर्स थी। वह उससे आठ साल बड़ी थी, एक दुखी शादी से उसने अपना पिंड छुड़ाया था--- और शायद इस लंबे रेलवे क्लर्क और उस महिला ने ऐसा कुछ कर डाला जो सामान्यतः वर्जित है।

वह मेरे बाद पकड़ा गया था और पहली बार जब मैंने उसे यहाँ देखा तो मैं दहल गया था। अगर उसने कहीं जबान खोली तो कितना क्या नष्ट न हो जायेगा लेकिन नहीं, उसने जबान नहीं खोली। उसे यहां लाया गया था कुछ राजनीतिक पर्चों की खातिर जो कि उसने एक साथी को पढ़ने के लिए दिये थे--- लेकिन पर्चों से आगे वह कभी नहीं बढ़ा।

कुछ दिन पहले पोकोर्नी और पिक्सोवा की एक भूल से यह बात बाहर निकल गयी थी कि हॉञ्जा चेर्नी श्रीमती विसूशिलोवा की बहन के घर में रहता है। इसलिए मेरी गिरफ़्तारी के दो दिन बाद विसूशिल का जो 'इम्तहान' लिया गया, उसमें उन्होंने उससे मारपीट के जरिये हमारी केन्द्रीय समिति के अन्तिम नेता के बारे में, जो कि अब तक नहीं पकड़ा गया था, कुछ बात निकलवानी चाही। उसके तीसरे दिन वह नम्बर 400 में आया और बहुत धीरे से, संभलकर बैठ गया- खुले घावों के बल बैठने में बड़ी भयानक पीड़ा होती है। मैंने उसे कुछ चिन्ता और कुछ प्रोत्साहन की दृष्टि से देखा। उसने अपने अक्खड़ नूजुल ढंग से जवाब दिया :

'जब मैं कुछ भी बताने से इंकार कर रहा हूँ तो वे मुझसे कुछ भी नहीं पा सकेंगे, फिर चाहे मेरे नितम्बों को वे छलनी ही क्यों न कर दें।'

मैं उस जोड़े को अच्छी तरह जानता था--- दोनों एक दूसरे को कितना ज़्यादा चाहते थे और एक-दो दिन की जुदाई में भी सख्त अकेलापन महसूस करते थे। अब महीनों बीत जाते हैं। मिचिल के ऊपर उस खूबसूरत मकान में उसकी बीवी अब कितनी उदास होगी, अकेली, उस उम्र में जब अकेलापन मौत से भी तिगुना भयानक होता है। उस अपने छोटे से स्वर्ग में जिसमें मज़ाक में वे एक दूसरे को ममीकिन्स और डैडीकिन्स कहा करते थे, अपने पति को वापस लाने के लिए उसने न जाने कितनी छोटी-मोटी तरकीबें सोच डाली होंगी। लेकिन ज़िन्दगी को चलाये

चलने का उसे सिर्फ एक जरिया मिला--- छुपे-छुपे इंकलाब का काम किये जाना, अब दो आदमियों का काम करना।

इस तरह 1943 के नये दिन के ठीक पहले वाली शाम को वह खाने की मेज पर अकेली बैठी थी और जहां पर वह बैठता था वहाँ उसकी तस्वीर रखी हुई थी। जब बारह बजा तो उसने उसके गिलास से जो उसकी खाली जगह पर रक्खा था अपना शराब का गिलास टन् से छुलाया और उसके स्वास्थ्य और जल्दी लौट आने की खास कर इस बात की कि वह देश आज़ाद होने तक ज़िन्दा रहे कामना करती हुई पी गयी।

एक महीने बाद वह भी पकड़ी गयी। इस बात से नम्बर 400 के हम कई लोग काँप गये क्योंकि वह बाहर के उन लोगों में से थी जिनके ज़रिये बाहरी दुनिया के संग हमारा संपर्क अब भी बना हुआ था।

उसने एक भी बात मुँह से नहीं निकाली।

उन्होंने उसे पीटा नहीं; वह इतनी बीमार थी कि मर ही जाती। उन्होंने उसे और बुरी यातनाएँ दीं--- मानसिक। उसकी गिरफ्तारी के कुछ दिन पहले वे उसके पति को काम करने के लिए पौलेंड ले गये। अब वे उससे कहते :

'देखो, तन्दुरुस्त आदमी तक के लिए वह ज़िंदगी कितनी सख्त है, फिर तुम्हारे पति की तो टाँग खराब है, वह उसे कभी सह नहीं सकेगा। वह यहीं गिरकर ढेर हो जायेगा और तुम उसे अब फिर कभी नहीं देख सकोगी। फिर तुम्हें दूसरा पति कहाँ से मिलेगा--- इस उम्र में? इसलिए समझ से काम लो और जो कुछ भी जानती हो बतला दो, और हम लोग झट से तुम्हारे पति को तुम्हारे पास वापस बुला देंगे।'

वह वहीं मर जायेगा, मेरा जो, बेचारा जो! कौन जाने कैसी मौत? उन्होंने मेरी बहन को मार डाला, मेरे पति को भी मार डालेंगे और मैं अकेली रह जाऊँगी, मौत के दिन तक बिल्कुल अकेली! मुझे इस उम्र में और कौन मिलेगा? लेकिन मैं उसे बचा सकती हूँ। वे उसे वापस ला देंगे--- एक कीमत पर। नहीं, मैं वह कीमत नहीं चुकाऊँगी, और इस तरह अगर वह मुझे मिला भी तो वह न होगा।

उसने एक शब्द भी मुँह से नहीं निकाला। वह भी गेस्टापो के माल की गुमनाम रफ्तनी में कहीं गायब हो गयी। कुछ ही दिन बाद खबर आयी कि उसका जो पोलेंड में मर गया।

लिडा

पहली बार जब मैं बाक्सा के घर गया था तो वह शाम का वक्त था। घर पर सिर्फ जोज़ो था और सजीव, चमकती हुई आँखों की एक छोटी-सी लड़की जिसे वे लोग लिडा कहकर बुलाते थे। अभी वह बच्ची ही थी। बड़े कुतूहल से वह मेरी मूँछों को देखती रहती और बड़ी खुश रहती, शायद यह सोचकर कि थोड़ी देर के मनबहलाव के लिए यह एक अच्छी नयी और दिलचस्प चीज़ घर में आ गयी।

हम दोनों की दोस्ती बड़ी जल्दी हो गयी। बाद में पता चला कि जोज़ी की सौतेली बहिन, इस बच्ची की उम्र उन्नीस साल है। उसका घर का नाम प्लाशा है (जिसका अर्थ होता है शरमीली) लेकिन यह गुण उसमें नहीं है। उसे अभिनय का शौक था।

मैं उसका गहरा दोस्त बन गया जिससे वह अपनी भेद की बातें भी कहने लगी। इस बात से मैने यह अनुभव किया कि और कुछ हो न हो मैं प्रौढ़ जरूर हो गया हूँ। वह अपने तरुण प्रेम की सारी दुखभरी बातें और सारे सपने मुझे बतलाती और बहन या बहनोई से कोई तकरार हो जाने पर उसे सुलझाने के लिए मेरे ही पास दौड़ी आती। सभी युवतियों की तरह उसके दिमाग का पारा भी बड़ी जल्दी चढ़ जाता था और वह तो और भी बिगड़ी हुई सी थी, वैसी ही जैसे माँ-बाप के बुढ़ापे के बच्चे अकसर हो जाते हैं।

वहाँ छः महीने रहने के बाद जब मैं बाहर गया तो वह पहली बार मेरे संग बाहर गयी।

कुछ-कुछ लँगड़ाता-सा एक अधेड़ आदमी अगर अपनी लड़की के साथ घूमने जाए तो कम लोग उस पर ध्यान देंगे बनिस्बत इसके कि अगर वह अकेले जाए। जो हमारे पास से गुजरते वे मुझे न देखकर उसी को देखते। इसीलिए वह मेरे संग घूमने जाती, इसीलिए वह मेरे संग मेरी पहली गैरकानूनी मीटिंग में गयी, इसीलिए वह मेरे पहले छिपकर रहने के कमरे में मेरे संग आकर रहने लगी। इस तरह--- अभियोग-तालिका अब यही कहती है--- इस तरह धीरे-धीरे वह मेरी छिपी हुई संदेशवाहिका हो गयी।

वह इस काम को बहुत प्रसन्नता से करती है, बिना इस बात के पीछे सिर खपाये कि वह काम क्या है या उसका मतलब क्या है। उसके लिए यह एक नयी और आकर्षक चीज थी, एक ऐसी चीज़ जिसे सब लोग नहीं करते, जिसमें जोखिम है, जाँबाजी का कुछ मज़ा है। उसे बस इसी की जरूरत थी!

जब तक वह छोटे-मोटे काम करती रही, मैंने उसे कुछ बतलाना उचित नहीं समझा। पकड़े जाने पर वह जितना कम जानती उतना ही ज्यादा अपनी रक्षा कर सकती--- क्योंकि तब उसे अनुभव भी न होता कि उसने कोई जुर्म किया है।

लिडा ने तेजी से विकास किया और इस हालत को पहुँच गयी कि जेलिनेक के यहाँ कोई छोटा-सा सन्देशा लेकर दौड़ जाने से ज़्यादा बड़े-बड़े और ज़िम्मेदारी के काम ले सके। अब वक्त था कि उसे बताया जाता कि यह सब क्या मामला है। चुनांचे मैं उसे शिक्षा देने लगा। मेरी शिक्षा एक बाकायदा स्कूल थी और लिडा बड़े सुख और बड़ी आतुरता से सीखती। देखने में तो अब भी वो वही खुश, अपने में मगन और गंभीर बातों से दूर, ऊपरी-ऊपरी बातों में रस लेने वाली लड़की जान पड़ती थी लेकिन अन्दर से वह बिल्कुल बदल गयी थी। उसने विकास किया और वह गहराई से सोचने लगी।

इस काम के सिलसिले में मिरेक से उसका परिचय हुआ।

वह बहुत काम कर चुका था और ऐसे ढंग से उसको ये बातें बतलाता कि वे उसके दिल में उतर जातीं। मिरेक का उस पर काफी प्रभाव पड़ा। उसके चरित्र के मूल गुणों को परखने में लिडा से शायद भूल हुई, लेकिन वह भूल तो मुझसे भी हुई। खास बात यह थी कि अपने काम और अपनी दीख पड़ने वाली निष्ठा के कारण वह अन्य युवकों की अपेक्षा लिडा के अधिक पास पहुँच सका।

लिडा में तेजी से प्रेम जगा और उसकी जड़ें भी गहरी चली गयीं।

1942 के प्रारंभ में उसने हिचकिचाते हुए पार्टी की सदस्यता के बारे में सवाल पूछने शुरू किये। इसके पहले कभी मैंने उसे इतना हिचकिचाते नहीं देखा था; इसके पहले किसी भी चीज़ को उसने इतनी गम्भीरता से नहीं लिया था। मैंने उसकी बात को अच्छी तरह तौलकर देखा और शिक्षा जारी रखी। मैं अब भी उसकी परीक्षा लेना चाहता था।

फरवरी 1942 में सीधे केन्द्रीय समिति ने उसे पार्टी में ले लिया। रात का समय था, बहुत सख्त बर्फ गिर रही थी और हम लोग पैदल घर चले आ रहे थे; वह खामोश थी, गो आम तौर पर वह बहुत बात करती थी। घर के पास एक मैदान को पार करते हुए वह यकायक रुकी और एक ऐसी खामोशी में जिसमें ज़मीन पर गिरकर बर्फ के टुकड़ों का जमना भी सुनायी देता था, उसने बहुत ही धीमे से कहा---

'मैं जानती हूँ कि यह मेरी ज़िन्दगी का सबसे महत्वपूर्ण दिन है, क्योंकि अब मैं अपनी नहीं रही। मैं तुमको वचन देती हूँ कि चाहे जो हो मैं कभी तुम्हें निराश नहीं करूँगी।'

उसके बाद बहुत कुछ हुआ, लेकिन उसने कभी हमें निराश नहीं किया।

चोटी के नेताओं से हमारे गुप्ततम संबंध बनाये रखने का काम उसका था। सब से नाजुक और सबसे जोखिम के काम उसके थे, जैसे ऐसी टोलियों के साथ संपर्क स्थापित करना जो कटकर अलग जा पड़ी हैं या उन काम करने वालों को सावधान करना जो सब से ज़्यादा खतरे में हैं। जब हाई कमान का मामला कुछ गड़बडा जाता या हमारी गुप्त छिपने की जगह खतरे में पड़ जाती तो लिडा बहुत सफाई से सब कुछ ठीक कर देती। वह बड़े-बड़े काम भी वैसे ही करती जैसे कि छोटे-छोटे काम, यों ही बहुत चलते-फिरते हलके-फुलके मनमौजी ढंग से, मगर वह केवल ऊपरी ढंग था, असल में उसकी तह में ज़िम्मेदारी का बड़ा दृढ़ संकल्प था।

वह हम लोगों के एक महीने बाद पकड़ी गयी। सब कुछ कबूलते हुए मिरेक ने उसका भी नाम लिया और तब उन लोगों को पता चला कि उसने अपनी बहन और बहनोई को फरार होने और छिपने में मदद पहुँचायी थी। उसने अपने सिर को झटका दिया और एक चंचल लड़की का अपना स्वाभाविक पार्ट अदा किया, जैसे उसकी समझ ही में यह बात न आती हो कि उसने कोई गैरकानूनी काम किया है, जिसका परिणाम उसके लिए बुरा हो सकता है।

उसे मालूम बहुत-सी बातें थीं लेकिन उसने बतायी एक नहीं और सबसे बड़ी बात यह कि उसने काम जारी रक्खा। अब उसकी परिस्थितियाँ और काम करने के तरीके बदल गये थे, उसके काम भी अब दूसरे-दूसरे थे, लेकिन हाथ पर हाथ धरकर वह बैठी नहीं। पार्टी के प्रति उसका कर्तव्य नहीं बदला था। जो काम उसे दिया जाता उसे वह जल्दी, बिल्कुल ठीक और बड़ी लगन से करती। अगर बाहर किसी को बचाने के लिए यह जरूरी हो जाता कि किसी तरह एक उलझी हुई परिस्थिति को सुलझाया जाए, तो लिडा बहुत मासूम चेहरे से इस काम को अपने हाथ में लेती। पांक्राट्स में औरतों के हिस्से में वह ट्रस्टी हो गयी और बाहर बीसियों आदमी जिन्हें कोई नहीं जानता था उन सन्देशों की बदौलत पकड़े जाने से बच गये जिन्हें लिडा ने भिजवाया था। इसके करीब एक साल बाद उसका ऐसा ही एक सन्देशा पकड़ा गया और उसके इस 'पेशे' का अन्त हुआ।

अब वह हम लोगों के साथ मुकदमे के लिए राइख जा रही है। हम लोगों की टोली में वही एक है जिसके बारे में थोड़ी बहुत यह आशा की जा सकती है कि वह देश आज़ाद होने तक जियेगी। उसकी उम्र अभी कम है। हम लोग न भी रहें तो भी तुम लोग उसे खोना मत। उसे अभी बहुत कुछ सीखना है। उसे सिखाओ-पढ़ाओ और उसकी बाढ़ मत रुकने दो, लेकिन उसे अपने ऊपर घमण्ड न करने दो और न इस बात का मौका दो कि जितना उसने किया है उसी से संतुष्ट हो कर वह बैठ जाये। वह कठिन से कठिन संघर्ष की कसौटी पर खरी उतरी है। वह आग में से गुजरी है और हमने देखा है कि किस जबर्दस्त धातु की वह बनी है।

मेरा कमीसार

वह नाटक के पात्रों में से नहीं है, लेकिन उसका व्यक्तित्व आकर्षक है--- बाकी लोगों से ज़्यादा शानदार।

दस साल पहले विनोहाडी के फ्लोरा कैफ़े में जब तुम मेज पर अपना पैसा खटखट करना चाहते या पुकारने वाले होते 'बिल, हेडवेटर' तब एक लम्बा-सा दुबला आदमी, काला टेलकोट पहले अचानक तुम्हारे सामने आ जाता। कुर्सियों के बीच वह पानी के मकड़े की तरह तेजी से जैसे तैरता हुआ, निःशब्द आ जाता और बिल तुम्हारे सामने रख देता। उसके शरीर का मुड़ना-घूमना, हिलना-डुलना दरिन्दे जैसा था, तेज और खामोश और उसकी आँखें ऐसी की एक ही बार में वह सब कुछ जैसे भाँप लेता। तुम्हें अपना आर्डर कहने की जरूरत भी न होती। वह बैरे से कह देता : तीसरी मेज के लिए सफेद कॉफी बिना ह्विपड क्रीम के। या 'बांयी खिड़की वाली मेज के लिए पेस्ट्री और पीपुल्स पेपर।' ग्राहकों की दृष्टि में वह लाजवाब हेडवेटर था और दूसरे काम करने वालों के लिए एक अच्छा साथी।

खैर, तब मैं उसको नहीं जानता था। मैंने तो उसे जाना बहुत बाद में, जेलिनेक के यहाँ, जब वह पेंसिल की जगह हाथ में पिस्तौल लिये हुए था जिसका निशाना मुझ पर था।

'मुझे सबसे ज्यादा दिलचस्पी उसमें है।'

सच पूछो तो उसके बाद से हम दोनों की एक दूसरे में दिलचस्पी हो गयी। उसने अक्ल पायी थी और दूसरों से वह इस कारण से और भी बढ़ा-चढ़ा था कि लोगों का दिमाग वह समझता था। इसीलिए अगर वह क्रिमनल पुलिस में गया होता तो बहुत कामयाब रहता। छोटे-मोटे मुजरिम और हत्यारे, अपने वर्ग से कटकर अलग जा पड़े आवारे, इन लोगों को उसके सामने अपना दिल उघाड़कर रखने में कतई हिचक न होती क्योंकि उन्हें अपनी जान बचाने के अलावा दूसरी कोई फिक्र नहीं होती। लेकिन पोलिटिकल पुलिस के हाथ में ये अपनी जान बचाने वाले तो कम ही पड़ते हैं। यहाँ पर पुलिस की अक्ल का मुकाबला सिर्फ एक आदमी की अक्ल से नहीं होता जिसे कि उन्होंने पकड़ रखा है, बल्कि उससे कहीं बड़ी एक ताकत से। यहाँ उन्हें सामना करना पडा है ढ़ृढ़ विश्वासों का, एक समूची टोली की अक्ल का, उनका शिकार भी जिस टोली का ही एक अंग है। धोखेधड़ी और मारपीट से विश्वास नहीं तोड़े जा सकते। 'मेरे कमीसार' में तुम्हें कोई भी आंतरिक ढ़ृढ़ विश्वास नहीं मिलेगा। अगर उनमें से कुछ में वह है भी तो उसके संग में है मूर्खता--- चालाकी नहीं, ज्ञान नहीं। अगर कुल मिलाकर कामयाबी का सेहरा उनके सिर रहा है तो इसका कारण यह है कि इंकलाबी लड़ाई बहुत लम्बी घिसट गयी और बहुत छोटे से क्षेत्र में लड़ी गयी, ऐसी परिस्थितियों में जो पहले के किसी अंडरग्राउंड संघर्ष से कहीं अधिक मुश्किल थीं। रूसी बोलशेविक कहा करते थे कि एक अच्छा अंडरग्राउंड कार्यकर्ता दो साल तक चल सकता है लेकिन अगर मास्को में रहना उनके लिए असंभव हो जाता तो वे भागकर पेत्रोग्राद जा सकते थे, पेत्रोग्राद से ओडेसा जा सकते थे, उन करोड़ों नगरवासियों के बीच में जहाँ उन्हें कोई नहीं जानता था, उनके बीच वे अपने को इस तरह खो सकते थे कि कोई उनका पता न पा सकता। लेकिन हमारे पास तो सिर्फ प्राग है, प्राग जहाँ पर शत्रु के ज़्यादातर गुप्तचर केन्द्रित हैं। इस सबके बावजूद हम बरसों से लड़ रहे हैं और यहां पर ऐसे-ऐसे साथी हैं जो पांच-साल से छिपे हुए काम कर रहे हैं और गेस्टापो उनका पता नहीं पा पाता। यह चीज़ इसीलिए सम्भव है कि हमने बहुत-सी बातें सीख ली हैं। हाँ, लेकिन इसका एक कारण यह भी है कि दुश्मन ने ताकतवर और क्रूर होने के बावजूद तहस-नहस करने से ज़्यादा कुछ नहीं सीखा है।

सेक्शन 11-अ में तीन आदमी हैं जो कम्युनिज़्म के सबसे कट्टर संहारकों के रूप में प्रसिद्ध हैं और जिन्हें घर के दुश्मन के खिलाफ युद्ध में वीरता का परिचय देने के लिए काले-सफेद-लाल फीते भी मिल चुके हैं। वे हैं फ्रीड्रिक, जेण्डर और 'मेरा कमीसार' जोज़ेफ बोएम। हिटलर के नात्सीवाद के बारे में कहने को उनके पास कुछ खास नहीं है, क्योंकि उसके बारे में उनकी कोई जानकारी ही नहीं है। वे किसी राजनीतिक सिद्धान्त के लिए इस लड़ाई में नहीं हैं, वे इसमें हैं अपनी खातिर। सब, अपने-अपने ढंग से।

जैंडर को--- जो एक निहायत छोटा-सा बेहद कड़ुआ आदमी है--- बाकी सब लोगों से ज़्यादा जानकारी पुलिस के तरीकों की है, लेकिन उससे भी ज़्यादा जानकारी उसे बनिये की तरह सौदा पटाने की है। कुछ महीनों के लिए उसका तबादला प्राग से बर्लिन का हुआ था, लेकिन जल्दी ही वह फिर तिकड़म के जोर से अपनी पुरानी जगह पर पहुँच गया। राइख की राजधानी में नौकरी उसके लिए तनज्जुली थी और नक़द घाटा। अँधेरे अफ्रीका या प्राग में जर्मन हाकिम का जो रोब और रुतबा होगा वह बर्लिन में कहाँ, दूसरे ऐसी दूरदराज जगहों में नकद प्राप्ति का डौल भी तो कहीं ज्यादा होता है। जैंडर बहुत मेहनती आदमी है; यह दिखलाने के लिए कि वह कितना ज्यादा काम करता है वह खाना खाते समय तहकीकात करता है, सवाल पूछता है। उसे अपने सरकारी काम का प्रमाण जुटाने की जरूरत पड़ती है जिसमें लोगों का ध्यान इस बात पर न जाए कि उसकी ऐसी दिलचस्पियाँ और भी बड़ी हैं जिनका कोई संबंध उसके सरकारी काम से नहीं है। रहम के काबिल है वह जो उसके हाथ में पड़ा, लेकिन उससे भी दुगनी रहम का हकदार है वह जिसके घर पर बैंक की पासबुक है या हुंडियाँ हैं। उस आदमी का अंत जल्दी आवेगा क्योंकि जैंडर बैंक बुकों और हुंडियों पर जान देता है। वह सबसे काबिल जर्मन अफसर समझा जाता है--- उस खास दिशा में। इस मामले में वह अपने चेक सहायक--- स्मोला--- से थोड़ा भिन्न है क्योंकि स्मोला शरीफ डाकू है और अगर तुम्हारा पैसा उसके हाथ लग जायेगा तो तुम्हारी जान वह न लेगा।

फ्रीड्रिक लम्बा-सा, दुबला-पतला, कुछ पीला-सा आदमी है जिसकी आँखों और मुस्कुराहट में दुष्टता है। वह गेस्टापो के एक खुफिया की हैसियत से सन् 37 में चेकोस्लोवाकिया आया था, उन जर्मन कम्युनिस्टों को पकड़ने और जर्मनी भेजने के लिए जिन्होंने हमारे देश में आकर शरण ली थी। उसको लाशें बहुत भाती हैं। कोई निर्दोष भी है, यह वो नहीं मानता। जो उसके दफ्तर की देहलीज़ लाँघता है वह मुजरिम है। उसे औरतों से यह कहना अच्छा लगता है कि उनके पति कंसेन्ट्रेशन कैंप में मर गये या मार डाले गये। उसे अपनी डेस्क की दराज में से मृत देहों की राख के सात पात्र निकालकर उस आदमी को दिखलाने में मजा आता है जिसका इम्तहान वह ले रहा हैः मैंने खुद अपने हाथों से मार-मारकर उन सातों को जहन्नमु रसीद किया था। अब आठवें तुम होगे।

अब उसकी डेस्क में आठ राखदान हैं क्योंकि जान जिज्का को पीटते-पीटते उसने उसका दम निकाल लिया।

अपने अलग-अलग मामलों के कागजात की फाइलें उलटना और हर बार यह कहना उसे अच्छा लगता है :

'फैसला। मामला खारिज।'

पर औरतों को यातनाएँ देने में उसे सबसे ज़्यादा रस आता है।

विलासपूर्ण जीवन बसर करने की जो चाह उसके हृदय में है, वह पुलिस की कार्रवाइयों में उसे बहुत मदद पहुँचाती है। अगर आपके पास एक खूबसूरत सजा-सजाया घर है या कोई अच्छा, मुनाफे का व्यापार है तो आपकी मौत बहुत जल्द आ जायेगी, और कुछ नहीं।

उसका चेक सहकारी नर्जर लम्बाई में उससे दो मुट्ठा छोटा है। दोनों में बस इतना ही अन्तर है।

मेरे कमीसार, बोएम, को रुपये या लाशों से कुछ खास प्रेम नहीं है, गो उसकी सूची में भी लाशें पहले दो लोगों से शायद ही कम हों। वह एक सट्टेबाज़, किस्मत आज़माने वाला आदमी है जो बड़ा आदमी बनना चाहता है। वह नेपोलियन रूम में काम करता था जहाँ हिटलर बहुत ही गुप्त बातचीत के लिए बेरॉं से एकदम अकेले में मिलता था। जो कुछ बेरॉं खुद हिटलर को न बतला पाता, उसे बोएम जोड़ देता। लेकिन वह इस चीज के मुकाबले में कुछ न था, यह आदमियों का शिकार करना, उनकी ज़िन्दगी और मौत का मालिक बन बैठना, पूरे-पूरे खानदानों की मौत का हुक्म दे देना--- इसकी बात ही और है!

यह न था कि वह सदा पूरे घरानों की हत्या करवाये ही तो उसे सन्तोष मिले; लेकिन उसे सदा यह कुरेदन होती थी कि कोई नयी लाजवाब बात पैदा करे, और यह चीज पूरे कुनबे की हत्या करने से भी ज्यादा बुरी हो सकती थी।

उसने खुफिया पुलिस के गोयन्दों का सबसे बड़ा जाल खड़ा किया। वह शिकारी था, उसके पास शिकारी कुत्तों का सबसे बड़ा गिरोह था, और वह शिकार करता था। अकसर वह शिकार के मजे के लिए ही शिकार करता। सवाल-जवाब, पूछताछ, इस काम से उसे सख्त कोफ्त होती थी; उसकी खास चीज थी लोगों को पकड़ना और फिर उन्हें फैसले की प्रतीक्षा में अपने सामने खड़ा रखना। एक बार उसने प्राग के दो सौ बस कंडक्टरों, मोटर ड्राइवरों और बस ड्राइवरों को पकड़ा और उन्हें सड़क के बीचोंबीच भेड़ों की तरह हाँकते हुए ले चला, सड़क का चलना बन्द हो गया और आने-जाने वालों का तमाम सिलसिला ही सख्त गड़बड़ में पड़ गया। लेकिन उसकी खुशी का कोई ठिकाना था! फिर उसने उनमें से डेढ़ सौ को छोड़ दिया, अपने मन ही मन में बहुत खुश कि डेढ़ सौ परिवार उसकी नेक दिली के गुन गायेंगे!

आमतौर पर उसके मामले बड़े अनावश्यक से, छोटे-मोटे लेकिन पेचीदा और उलझे हुए होते थे। मेरी बात अलग थी; मुझे तो उसने अकस्मात् पकड़ लिया था।

'तुम मेरे सबसे बड़े केस हो' वह अकसर मुझ से कहता और दिल से कहता। उसे इस बात का घमंड था कि उसके मामलों में से एक ऐसा भी है जिसका शुमार सबसे बड़े केसों में होता है! संभव है इस बात ने मेरी ज़िन्दगी थोड़ी बढ़ा दी हो। हम लोग अपनी पूरी शक्ति से और लगातार एक दूसरे से झूठ बोलते, लेकिन उसमें एक अन्तर था। वह यह था कि मैं जब झूठ बोलता तो यह समझ कर कि झूठ बोल रहा हूं और वह बिना जाने झूठ बोलता, अपनी समझ में वह सच बात ही कहता लेकिन होती वह झूठ। जब कभी किसी झूठ का भाँडा फूटता तो हम उसे आँख की ओट कर देते, और हमारे बीच यह बिनकहा समझौता भी चलता कि हम फिर उस बात का, जिक्र न उठायें। मेरा खयाल है कि सच्चाई का पता लगाने की उसे कुछ खास चिन्ता न थी; उसे चिन्ता सिर्फ इस बात की थी कि उसके सबसे बड़े केस पर कोई दाग न आने पाये।

तहकीकात के वक्त वह सिर्फ डंडों और लोहे की छड़ों ही का इस्तेमाल न करता। उसकी नज़र में आदमी जैसा होता उसके अनुसार वह अपने अस्त्र चुन लेता और अकसर डरवाने से ज़्यादा बहलाने-फुसलाने पर जोर देता। उस पहली रात को छोड़कर उसने फिर शायद कभी मुझे यातना नहीं दी। लेकिन अगर उसकी जरूरत पड़ती तो वह मुझे किसी और के हवाले कर देता।

इसमें सन्देह नहीं कि वह और सबों से ज़्यादा पेचीदा मगर दिलचस्प आदमी था। उसकी कल्पना-शक्ति बहुत अच्छी थी और उसका इस्तेमाल करना भी वह जानता था। हम लोग अकसर कल्पना के घोड़ों पर सवार होकर ब्रानिक के एक काल्पनिक सम्मेलन में पहुंच जाते जहाँ हम लोग एक बियर गार्डेन में बैठते और लोगों की भीड़ को गुजरते हुए देखते।

उनके बारे में सोचता-सोचते वह कहता :

'हमने तुम्हें पकड़ लिया, लेकिन देखो इससे उनकी ज़िन्दगी में कुछ फर्क नहीं पड़ा। वे अब भी वैसे ही घूमते हैं जैसे पहले घूमते थे; अब भी पहले ही की तरह मुस्कुराते या अपनी तकलीफों के बारे में परेशान होते है। दुनिया का सारा कारबार उसी तरह चल रहा है, गोया तुम कभी थे ही नहीं! उनमें जरूर तुम्हारे कुछ पुराने पाठक होंगे--- तुम्हारा क्या खयाल है, क्या तुम्हारी गिरफ़्तारी से किसी के माथे पर एक भी शिकन ज़्यादा आयी होगी?'

कभी-कभी पूरे दिन के सवाल-जवाब के बाद वह मुझे मोटर में बिठाल-कर नेरुदा स्ट्रीट होता हुआ किले तक ले जाता :

'मैं जानता हूँ कि तुम्हें प्राग से मुहब्बत है। वह देखो! तुम क्या फिर कभी वहाँ लौट कर नहीं जाना चाहते? कितना खूबसूरत है प्राग--- और तुम्हारे न रहने पर भी वह ऐसा ही खूबसूरत रहेगा।'

बाइबिल के लोभ दिलाने वाले सर्प का पार्ट वह अच्छा अदा करता। गर्मी की गहरी होती हुई शाम में कुछ यह भाव था कि प्राग में पतझड़ का मौसम शुरू हो गया। शाम नीलगूँ थी और उसमें पकती हुई अंगूरी लता का हलका धुंधलापन था, और

था नशा अंगूर का-सा। मेरी इच्छा हुई कि मैं प्रलय के दिन तक उसे इसी तरह देखा करूँ... लेकिन मैंने उसे टोका :

...और तुम जब न रहोगे तब तो प्राग और भी ज़्यादा खूबसूरत हो जायगा।'

वह जरा सा हँसा। उस हँसी में कमीनापन नहीं, उदासी थी। उसने कहाः

'तुम सिड़ी हो।'

वह अकसर उस शाम की बात पर लौट-लौट आता

'जब हम लोग न रहेंगे... तब क्या तुम्हें अब भी हमारी जीत में विश्वास नहीं होता?'

वह मुझ से पूछता था क्योंकि उसे खुद पर पूरा इत्मीनान न था। और वह बड़े ध्यान से, एकाग्र होकर मेरी बात सुनता जब मैं उसे सोवियत संघ की शक्ति और अजेयता के बारे में बतलाता।

यह मेरे आखिरी 'इम्तहानों' में से एक था।

गेलिसों की कहानी

सामने वाली कोठरी के दरवाजे के पास पतलून की गेलिस लटक रही थी। आदमियों के काम आने वाली मामूली गेलिस, एक चीज़ जो मुझे कभी नहीं पसन्द आयी। लेकिन अब जब भी हमारी कोठरी का दरवाजा खुलता है तब हम बड़े चाव से उसे तका करते हैं क्योंकि उसमें हमें आशा की किरण दिखायी देती है। पकड़ पाने पर वे चाहें तुम्हें मारते-मारते अधमरा ही क्यों न कर डालें, मार ही क्यों न डालें, लेकिन इतना जरूर करेंगे कि तुमरी नेकटाई, बेल्ट या गेलिस जरूर ले लेंगे जिसमें तुम अपने आपको फाँसी न लगा सको (गो मरदूदों को मालूम नहीं कि तौलिये से भी बड़े मज़े में फाँसी लगायी जा सकती है!) मौत के ये भयानक औज़ार फिर जेल के दफ़्तर में रक्खे जाते हैं, उस वक्त तक जब तक कि गेस्टापो की कोई छोटी-मोटी अदालत यह फैसला नहीं कर देती कि तुम्हें कहीं और भेजना है काम पर, कंसेन्ट्रेशन कैंप में या फाँसी के लिए। तब वे तुमको अन्दर बुलाते हैं और पूरे सरकारी रीति-रस्म के साथ तुमको वे चीज़ें लौटा देते हैं लेकिन कोठरी में तुम उन्हें अपने साथ नहीं ले जा सकते। कायदा है कि वे चीज़ें कोठरी के दरवाजे के पास या उसके सामने के जँगले पर लटका दी जायें। फिर वे वहीं लटकती रहती हैं जब तक कि तुम्हारा ट्रान्सपोर्ट छूटने का वक्त नहीं आता, जो कि इस बात का साफ सबूत होता है कि कोठरी का कोई आदमी एक ऐसे सफर की तैयारी कर रहा है जो कि उसका चाहा हुआ नहीं है।

सामने वाली वह गेलिसें उस दिन वहाँ पर दिखायी दीं जिस दिन मुझे यह पता चला था कि गुस्टिना पर क्या बीतने वाली है। सामने वाला मेरा यह दोस्त भी गुस्टिना ही के संग, उसी ट्रान्सपोर्ट में 'काम पर' भेजा जा रहा है। यह टोली अभी गयी नहीं है, यकायक जाना स्थगित करना पड़ा क्योंकि, सुनते हैं, वह जगह जहाँ ये लोग काम करने जा रहे थे, बमों से उड़ा दी गयी (यह भी एक बड़ी सुन्दर संभावना होती है)। अब पता नहीं वे लोग कब जायेंगे आज शाम, शायद कल या शायद एक या दो हफ्ते बाद। गेलिसें अब भी सामने लटक रही हैं और मैं जानता हूँ कि जब तक वे मुझे उस जगह पर दिखायी देती हैं तब तक गुस्टिना यहीं प्राग में हैं। इसलिए मैं उन्हें बहुत चाव से और बहुत प्यार से देखा करता हूँ गोया वे गुस्टिना को मदद पहुँचाने वाली जानदार चीज़ें हों! उसकी बदौलत उसे एक दिन, दो दिन, तीन दिन की मोहलत मिलती है... कौन जानता है उन तीन दिनों में क्या हो जाए? मुमकिन है उन्हीं में से एक दिन वह आज़ाद हो जाए।

यहाँ पर इसी तरह हम लोगों की ज़िन्दगी चलती है। पिछला साल, पिछला महीना, आज, कल हमारी आँखें लगातार उस आने वाले कल पर लगी रहती हैं जिस पर ही सारी उम्मीदों का दारोमदार है। तुम्हारी किस्मत का फैसला हो चुका है , तुम्हें परसों गोली मारी जाने वाली है लेकिन, ओह, अभी तो कल बीच में पड़ा है, क्या कुछ नहीं हो सकता! कल तक तो ज़िन्दा रहो, मुमकिन है सारा नक्शा ही बदल जाए। सभी कुछ इतना डाँवाडोल है, कौन जाने कल क्या हो जाये? कल बीत जाते हैं, हजारों ज़िन्दगी से हाथ धोते हैं और उनके लिए फिर कल नहीं होता। लेकिन जो ज़िन्दा है वह न मरने वाली उम्मीदों के सहारे जिये जाते हैं पता नहीं कल क्या हो, कल को किसने देखा है।

वह दिमागी हालत एक-से-एक फ़िज़ूल अफ़वाहों को जन्म देती है। हर हफ़्ते लड़ाई के खात्मे के बारे में कोई गुलाबी कहानी चलती रहती है जिसे सभी खूब खींसे निकालकर मुस्कुराते हुए दोहराते रहते हैं। हर हफ़्ते पांक्राट्स लोगों के कानों में कोई नयी अच्छी सनसनीखेज बात कह जाता है, जिसे हम लोग झट से सच मान लेते हैं। ऐसी बातों पर विश्वास कर लेने के खिलाफ़ तुम अपने आप से लड़ते हो; झूठी उम्मीदों को दबाते हो क्योंकि वह चरित्र को मजबूत नहीं करती, उल्टे अंत में कमज़ोर कर देती हैं। उम्मीद को कभी, किसी हालत में, झूठ की खुराक नहीं पहुंचानी चाहिए, उसे सदा सच्चाई का ही आधार देना चाहिए, वह सच्चाई जो साफ़-साफ़ लड़ाई का अन्त उस रूप में देखती है जिस रूप में ही उसका अन्त हो सकता है। सत्य में बुनियादी विश्वास आदमी के अन्दर होता है। और यह विश्वास कि एक दिन ही सब कुछ है, निर्णय उसी के हाथ में है और सम्भव है कि वह एक दिन जो तुम्हें और मिला तुम्हें उस ज़िन्दगी, जिसके छूट जाने के खयाल से ही तुम्हें नफ़रत है, और उस मौत की चौहद्दी से बाहर ले आये जो तुम्हारे सामने खड़ी है।

आदमी की ज़िन्दगी में ऐसे दिन बहुत नहीं होते लेकिन फिर भी तुम उन्हें तेजी से, और-और तेजी से, जितनी तेजी से मुमकिन हो सके, खर्च करना चाहते हो। भागता हुआ, बेलगाम वक्त, जो खून की तरह बह जाता है और आदमी की ज़िन्दगी को खत्म कर देता है, यहाँ पर सबसे बड़ा दोस्त होता है। कैसी अजीब बात है।

आने वाला कल बीता हुआ कल हो गया है। परसों आज है--- और फिर वह भी बीत जायेगा। गेलिसें अब भी सामने वाली कोठरी के दरवाजे पर लटक रही हैं।

...क्रमशः जारी

साभार : फाँसी के तख्ते से

आर्य सभ्यता का आरम्भ

■ मुक्तिबोध

...पिछले अंक से जारी

ऋग्वैदिक युग

आज से पाँच साढ़े-पाँच हज़ार वर्ष पूर्व, भारत के उत्तर-पश्चिम कोण में आर्य अश्वारोहियों के दल-के-दल एकत्र होने लगे थे। उन्हें अपनी विकास-प्रसार यात्रा में अनेक युद्ध करने पड़े। उन्होंने विविध वैचारिक आन्दोलनों का सूत्रपात किया। इसके द्वारा वे एक ऐसी सभ्यता की स्थापना कर सके, जो काल के क्रूर प्रहारों को लौटाने लगी। प्रयत्न, संघर्ष, उत्थान, समन्वय और विकास तथा पुनः संघर्ष का एक ऐसा सिलसिला शुरू हुआ, जिससे भारतीय समाज के जीवन और पुनरुज्जीवन, तथा नवीनीकरण के दृश्य अनेक काल-खण्डों में उद्भासित हो उठे। प्राचीन सभ्यताएँ परिवर्तन की अग्नि-प्रक्रियाओं में पड़कर नष्ट हो गयीं, किन्तु भारतीय आर्य सभ्यता सारे जीवनप्रद तत्वों को समेटकर, अनेक परीक्षाओं में से गुज़रकर अपना नवीनीकरण तथा पुनरुज्जीवन करती रही। उसके स्थायित्व का यह मूल रहस्य है। इस आर्य सभ्यता के आदि संस्थापक कौन थे और शुरू में उन्हें क्या करना पड़ा, इसकी एक हल्की-सी झलक यहाँ दी गयी है।

सभ्यता के उषःकाल में जिस जाति ने लगभग सारे यूरोप से लेकर ईरान और भारतवर्ष को अपनी सभ्यता और संस्कृति प्रदान करते हुए, विश्व-इतिहास को एक नया मोड़ दिया, वह आर्य जाति या उसकी एक शाखा ईसा के तीन साढ़े-तीन हज़ार वर्ष पूर्व भारत के दरवाज़े आकर खड़ी हुई। उसके अश्वारोही वीरों ने पश्चिमोत्तर (बलूचिस्तान-अफ़गानिस्तान) के आर्येतर सभ्यता केन्द्रों को नष्ट किया। क्रमशः ये आर्य सप्त-सिन्धु (पंजाब) के प्रदेश में अपने उपनिवेश स्थापित करने लगे। आर्य जातियाँ एक नहीं, अनेक समूहों और प्रभावों में आयी और उनका प्रारम्भिक प्रवेश तथा, उसके अनन्तर, सप्त-सिन्धु के विभिन्न प्रदेशों में उनके द्वारा उपनिवेशों की स्थापना और प्रसार के बीच एक सहस्र से अधिक वर्ष बीत गये।

देवासुर-संग्राम : आर्य-जन भारत की ओर मुड़ने के पहले ईरानी आर्यों के साथ मध्य एशिया में कहीं घूम रहे थे। ईरानी आर्य तथा हमारे आर्यों के बीच, किन्हीं बातों को लेकर, विशेषकर धार्मिक तत्वों के विषय में, घनघोर मतभेद हुआ। इस मतभेद ने परस्पर घृणा, तिरस्कार और युद्ध का रूप धारण कर लिया। हमारे लिए जो पूज्य थे वे उनके लिए घृणास्पद, और उनके लिए जो श्रेष्ठ थे, वे हमारे लिए दुष्ट हो उठे। हमारे यहाँ असुर शब्द का अर्थ बहुत बुरा है, उनके यहाँ देव शब्द का अर्थ बहुत बुरा है। उनके धर्म-ग्रन्थ जेन्द-अवेस्ता तथा हमारे धर्म-ग्रन्थ वेद के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि हम दोनों की भाषाएँ लगभग समान थीं, आचार-विचार भी लगभग समान थे, साथ ही देवता भी समान थे। मित्र, वरुण, नासत्य, अग्नि, सूर्य आदि की आराधना हमारे यहाँ भी होती थी, उनके यहाँ भी। किन्तु, जिन्हें हम असुर कहते हैं, वे उनके लिए पूज्य हुए। अहुर मज्द उनका सर्वोपरि देवता था। वह असुर महत् है। हमारे यहाँ इन्द्र, असुरों को मारने वाला देवता है। वृत्रासुर की कथा हमारे यहाँ भी है, उनके यहाँ भी है। हमारे लिए वृत्रासुर दुष्कर्मों का निधान है; उनके लिए वह गुणों की खान है। वे इन्द्र को बुराई की जड़ समझते हैं। हमारे यहाँ वरुण महान् होते हुए भी असुर है। उनके लिए वरुण महत्तम है, श्रेष्ठतम है। एक युग में वरुण हमारे लिए भी श्रेष्ठतम था। ऋग्वेद के मन्त्रों से सूचित होता है कि वह विश्व-व्यवस्था या ऋतु का प्रतीक माना जाता था। संक्षेप में मध्य एशिया से भारत आने के पूर्व इनके बीच कलह और संघर्ष था। इसी संघर्ष की एक झलक हमारे यहाँ देवासुर-संग्राम की कुछ कथाओं में भी देखी जा सकती है।

द्वितीय युद्ध-क्रम : भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में आते ही आर्यजनों को भिन्न धर्म, भिन्न समाज-व्यवस्था, भिन्न आचार-विचारवाली ऐसी सभ्यता का सामना करना पड़ा, जो पहले ही से उन प्रदेशों में जमी बैठी थी। परिणामतः संघर्ष अनिवार्य हो उठा। वह सभ्यता अधिक विकसित होने से, उसकी प्रतिरोध-शक्ति भी अधिक थी, जिसके फलस्वरूप अधिकाधिक वैमनस्य और घृणा का वातावरण बनता गया।

दाशराज्ञ युद्ध : आर्य जन आपस में भी लड़ते थे। आर्य जाति स्वयं कई 'जनों' (कबीलों) में बँटी थी। उनमें पाँच प्रमुख थे यदु, तुर्वसु अनु, द्रह्यु और पुरु। इनके अतिरिक्त पश्चिमोत्तर प्रदेश में, गान्धारि, पक्थ (पख़्तून), केकय, अलिनु, विषाणिन, शिव और भलान भी थे। त्रित्सु और संजय नामक जन भी थे। आर्य अब सप्तसिन्धु के प्रदेश में पहुँच चुके थे। यह सप्तसिन्धु प्रदेश आर्यों का पंजाब ही है, जिसको वितस्ता (झेलम), असिकनी (चिनाब), परुपणी (रावी), विपाशा (व्यास), शतद्रु (सतलज), सरस्वती (जो अब लुप्त हो गयी है), तथा सिन्धु अपने जल से सिंचित करती थीं।

यह स्वाभाविक ही था कि भूमि के लिए आर्य जातियों में परस्पर युद्ध हो। उस काल में पुरु जाति का बहुत प्रभाव था। किन्तु, साथ ही भरत नामक जाति भी बहुत महत्त्वकांक्षी थी। 'पुरु आर्य' कहलाने वाले आर्य जन अपने को शुद्ध रक्त वाले समझते थे। इन्होंने ही दास राज्यों को नष्ट किया होगा। इस बात का प्रमाण नहीं मिला है कि इन आर्य जातियों के अपने अलग-अलग राज्य हुआ करते थे। उनके पृथक्-पृथक् नेता अवश्य थे। ये नेता कभी-कभी राजा कहलाते थे।

इसके विपरीत, भरतों का अपना एक वास्तविक राजा था। उनका राज्य यमुना के पूर्व में था। इस राज्य में पश्चिमोत्तर प्रदेश से भागे हुए आर्येतर ये ही, हिमालयीन अंचल में रहने वाली यक्ष-गन्धर्व आदि जातियाँ भी थीं। ये जातियाँ यहाँ बहुत पहले से रह रही थीं। भरत जाति का राजा सुदास था। सुदास ने आर्येतरों का भी एक संघ बना लिया। उसका नेतृत्व 'भेद' नामक एक आर्येतर पुरुष के पास था।

सुदास, भरत जाति का राजा था, न कि नेता। इसके विपरीत, पश्चिम की ओर के आर्य अभी 'नेता' ही थे। पुरु जाति ने, दस आर्य जातियों का एक संघ बनाया, जिसमें अलिन (काफ़िरिस्तान), पक्थ (पख्तून), भालानस (बोलन दर्रे के समीपवर्ती क्षेत्र के निवासी), शिव (सिन्धु), तथा विषाणिनी, एवं पंजाब के पुरु, यदु, तुर्वसु, अनु और द्रुह्यु भी शामिल थे।

आर्येतर जन दोनों ओर से लड़े। राजा सुदास की विजय हुई। पुरु जनों का प्राधान्य समाप्त हो गया।

सुदास अपनी इस सफलता से सार्वभौम नरेश बन गया। उसने जीते हुए राज्यों को अपने राज्य में नहीं मिलाया, वरन् अपना आधिपत्य स्वीकृत कराने के लिए उनसे कर वसूल करता रहा। अधिपति की यह भावना बाद में चलकर 'सम्राट' की कल्पना में बदल गयी।

आर्य-जीवन : आर्यो की सभ्यता मुख्यतः ग्राम सभ्यता थी। वे पशु-पालक भी थे, खेतिहर भी। शुरू-शुरू में, अश्वों का महत्व बहुत था। किन्तु, अब गाय कामधेनु होकर पवित्र बन गयी। बैलों की सहायता से खेती की जाने लगी। गाय का दूध पुष्टिकर था। इसलिए, वह 'अघन्या' (अवध्य) हो उठी।

जौ, गेहूँ, माष (उड़द), तिल प्रमुख खाद्यान्न थे। मांस भी खाया जाता था। तक्ष्मन् (बढ़ई), वाय (तन्तुवाय, जुलाहा), कर्मार (धातु का काम करने वाला), हिरण्यकार (सुनार) आदि व्यवसायियों का उल्लेख भी वेदों में पाया जाता है। दास तो स्वयं शिल्पी ही थे। वे या तो नौकरी करते या गुलामी। आर्य चाँदी, सोने या लोहे की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बनाते। वस्त्र-निर्माण एक प्रमुख उद्योग था। वे ऊन और रेशम भी तैयार करते। सिन्धु सभ्यता वालों से उन्होंने वस्त्रोद्योग अवश्य सीख लिया होगा।

वैदिक साहित्य में 'पणि' नामक एक जाति का उल्लेख आता है। सम्भवतः यह पणि जाति, भूमध्यसागर तट पर, फ़िलिस्तीन के पास, रहने वाले फ़िनिशियनों की ही शाखा होगी। भारतीय आर्यो का उनसे खूब परिचय था। पणि एक व्यापारी जाति थी। व्यापार के लिए, वस्तु-विनिमय ही सबसे अच्छा साधन था। मुद्राओं का (सिक्कों का), शायद चलन नहीं था। वैसे वेदों में, 'निष्क' नामक एक स्वर्णमुद्रा का उल्लेख आता है। सम्भवतः आर्य स्थल और जल मार्गो द्वारा दूर-दूर के देशों में पहुँचते होंगे।

इनके परिवार पितृ-सत्तात्मक थे। स्त्रियों का उचित सम्मान था। ऋषियों की श्रेणी में गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा जैसी शिक्षिता नारियाँ भी थीं। बाल-विवाह का नाम नहीं था। विधवा-विवाह खूब होते थे। पुरुष एक से अधिक पत्नियाँ रख सकता था; किन्तु स्त्री का एक ही पति होता था। 'स्त्रियों और शूद्रों को शिक्षा नहीं देनी चाहिए' यह विचार वैदिक युग में विद्यमान नहीं था। स्वयंवर प्रचलित थे। लड़कियों का उपनयन संस्कार होता था, वे जनेऊ पहनतीं और ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं।

वर्ण-व्यवस्था का किसी-न-किसी रूप में उदय हो चुका था। सर्वोच्च वर्ग दो थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय। शेष 'विशः' कहलाते। ऋषि भी वंशानुक्रम से होते; वैसे ही कभी-कभी राजा भी। किन्तु, राजा का बहुत बार चुनाव भी होता। 'सभा' और 'समित' नामक दो सभाएँ भी थीं, जो राजा का सलाह देतीं। राजा भूमि का अधिपति नहीं, वरन् जन का नेता होता था। उसे समाज के अनुशासन के अन्तर्गत नियमों का पालन करते हुए काम करना पड़ता था। वर्ण, जन्म के अनुसार तो थे ही तथा कर्म के अनुसार भी थे। कोई भी व्यक्ति अपनी निपुणता, तप, विद्वता के आधार पर ब्राह्मण बन सकता था। इसी प्रकार, कोई भी आर्यजन अपनी वीरता के द्वारा क्षत्रिय बन सकता था। वैदिक आर्यो ने समाज-व्यवस्था का स्पष्टीकरण करने के लिए, समाज को मानव-शरीर की उपमा दी है। पुरुष-सूक्त में हम पढ़ते हैं कि शीर्ष-स्थानीय ब्राह्मण थे, क्षत्रिय बाहु के समान, पेट और जंघाओं की भाँति वैश्य और शूद्र पैरों के समान थे।

वैदिक धर्म : वैदिक आर्यो ने सृष्टि की शक्तियों में देव-रूप देखा। ऋग्वेद में जो देवता हैं वे प्रकृति के नाना रूपों और शक्तियों के प्रतीक हैं। आगे चलकर, उन्होंने कण-कण में समाये परमात्मा की भावना की। प्रारम्भ में वे प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के उपासक थे। हम वैदिक देवताओं को तीन भागों में बाँट सकते हैं: (1) सर्वोच्च शून्याकाश के देवता, जैसे द्यौस्, अश्विन, सूर्य तथा उसके विभिन्न रूप, जैसे सवितृ, उषस् और इनके अतिरिक्त, विष्णु और वरुण; (2) पृथ्वी के देवता, जैसे अग्नि, सोम, सरस्वती तथा पृथ्वी; और इन दोनों के बीच, (3) अन्तरिक्ष के देवता जैसे इन्द्र, वायु, पर्जन्य, मरुत। इनमें सर्वाधिक प्राचीन है द्यौस् तथा पृथ्वी। द्यौस् या द्यौः आकाश का चमकता देवता था। वह हमारा पिता था, पृथ्वी हमारी माता थी। किन्तु, ज्यों-ज्यों समय आगे बढ़ता गया, द्यौः के स्थान पर वरुण का तथा इन्द्र का माहात्म्य बढ़ता गया। वरुण आकाश का देवता, और इन्द्र मेघ-गर्जन तथा वर्षा का देवता। आगे चलकर, वरुण समुद्रों का, जल का भी देवता बना। यही नहीं, वह सत्य और ऋत का (विश्व-व्यवस्था, सृष्टि-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, नैतिकता आदि सबका) देवता बना। विश्व के त्रिकालदर्शी शासक और अनुशासक के रूप में उसकी कल्पना की गयी। पाप-शान्ति के लिए लोग उससे क्षमा-याचना करते।

मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने वरुण के प्रति कुछ अतिशय रसार्द्र स्तवन किये हैं। वरुण के पश्चात् सर्वाधिक लोकप्रिय देवता इन्द्र है। वह देवों का अग्रणी अर्थात् नेता था। वह वर्षा करता, शत्रुओं के दुर्गो का विध्वंस करता। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए आर्य उसकी प्रार्थना करते। इसके अतिरिक्त सूर्य के विभिन्न रूप पूषा, मित्र, सवितृ इत्यादि भी आर्यो के प्रिय देवता थे।

पृथ्वी-स्थित देवताओं में अग्नि तथा सोम प्रमुख थे। इनमें भी अग्नि का महत्वपूर्ण स्थान था। अग्नि-भक्तों द्वारा दी गयी आहुतियों को देवताओं तक पहुँचाता। वह संवाद-वाहक था। सोम नामक वल्ली से मादक पेय निकाला जाता। रहस्यपूर्ण ढंग से सोम की समता चन्द्रमा से की गयी थी, यहाँ तक कि चन्द्रमा का एक नाम भी सोम हो गया। चन्द्र वनस्पति-जगत का नियन्त्रण करने वाला देवता था। वैदिक-विद्वानों का विचार है कि 'विष्णु' नामक देवता का प्रादुर्भाव बहुत बाद में हुआ।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से देवता थे, जैसे यम, रुद्र, प्रजापति, इत्यादि।

वैदिक ऋषि मन्त्रों और स्तवनों द्वारा देवताओं का अवाहन करते। ये मन्त्र यज्ञ के समय पढ़े जाते। यज्ञाग्नि में घृत, दूध, अन्न,

आमिष (मांस) तथा सोम को डालकर मन्त्र-पाठ किया जाता। वैदिक विधि यज्ञों पर आधारित है। कर्म-काण्ड की बहुलता थी। किन्तु मन्त्रों तथा स्तवनों में, देवताओं के प्रति सच्चे भक्ति-भाव का भी परिचय मिलता है।

आर्यो की धर्म-दृष्टि की बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि वे देवताओं की सहायता से इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाना चाहते थे। उनके धर्मोपदेश संसार से विरक्ति या पलायन नहीं सिखाते थे, वरन् वे इसी जगत को सर्वांगीण समृद्धि के लिए देवताओं का आवाहन करते थे। आर्य जन आशावादी थे। उनका अन्तःकरण प्रसारशील था।

वे मूर्तिपूजक नहीं थे, देवताओं के लिए मन्दिर नहीं बनाते थे। प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति, उनका हृदय सहज रूप से आकर्षित होता। प्रभात की मनोरम सौन्दर्य-आभा को 'देवी' का रूप देना, उनकी कल्पना का सुन्दर नमूना था। ऋग्वेद में उषा के प्रति जो ऋचाएँ कही गयी हैं उनमें काव्य की मनोरम आभा है।

किन्तु, इसके बावजूद, वे मातृ-देवियों की पूजक नहीं हैं। वैदिक धर्म में पुरुष भावों की प्रधानता है। उसमें एक ताजगी है, नवीन की संवेदना है, विकास और प्रसार की भावनाएँ हैं। उस धर्म में, स्वर्ग का तो उल्लेख है, किन्तु नरक का कहीं नहीं। पापी मनुष्य को इसी लोक में दण्ड दे दिया जाता था। उसके लिए नरक के विधान की आवश्यकता नहीं थी। यह हमारा प्रारम्भिक वैदिक धर्म है।

वैदिक ऋषियों में सर्वाधिक प्राचीन वैवस्वत् मनु है। किन्तु प्रधान हैं गृत्समद, विश्वमित्र, बामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वशिष्ठ। इनके अतिरिक्त, कण्व, अंगिरस, शिवि, औशीनर, प्रतर्दन, मधुछन्दा, देवापि के नाम तथा अगस्त्य ऋषि की पत्नी लोपामुद्रा का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

ये सब ऋग्वेद के ऋषि हैं। वेदों की रचना क्रमशः होती गयी। तिलक के अनुसार, ऋग्वेद की रचना ईसा के 6000 साल पहले और प्रो. जैकोबी के अनुसार ईसा के 4000 साल पहले हुई। प्रोफ़ेसर विण्टर नित्ज ऋग्वेद की रचना ईसा से कम-से-कम 2500 साल पहले बताते हैं। यही काल आजकल सर्वमान्य है। मुख्य बात यह है कि सिन्धु-सभ्यता के अन्त के पहले ऋग्वेद की रचना हो रही थी। यह निश्चित है।

वैदिक आर्य धर्म, आर्यो की किन्ही अति प्राचीन परम्पराओं के आधार पर बना है। यही कारण है कि बैबिलोनिया को नष्ट करने वाले कासाइट, एशिया मायनर में राज्य स्थापित करने वाले हिट्टाइट, तथा मिटन्नी जातियों में, न केवल भारतीय वैदिक संस्कृत नाम मिलते हैं, वरन् वैदिक देवताओं के नाम से व्यवहार भी होता था। इन्हीं वैदिक देवताओं में से कुछ ईरानी आर्यो में प्रधान हैं। मध्य एशिया के मैदानों में, जब मूल आर्य जाति घूम रही होगी, तब उस समय भी इसी वैदिक धर्म का कोई प्राचीनतम रूप उसका भी धर्म रहा होगा। हाँ, यह सच है कि भारत में आकर, उनमें नये भाव आये, नयी परम्पराएँ जुड़ीं।

ऋग्वेद में जो स्थल-निर्देश हैं, उनसे सूचित होता है कि आर्य अभी पंजाब छोड़कर उसके आगे पूर्व की ओर अधिक नहीं बढ़े थे। किन्तु पंजाब में बसे आर्यो का, पश्चिमोत्तर में रहने वाले आर्यो से अधिक सम्पर्क नहीं रहा। यजुर्वेद में, मुख्यतः ब्रह्मवर्त तथा सतलज और यमुना के बीच के स्थानों का संकेत है। अतः यह अनुमान स्वाभाविक हो जाता है कि आर्यो के उपनिवेश यमुना-तट तक पहुँच चुके थे।

यजुर्वेद तक आते-आते वैदिक धर्म में कर्मकाण्ड की प्रधानता हो चुकी थी। फलतः पौरोहित्य का कार्य बढ़ गया था। यज्ञ-याग की विधियों का कठोरतापूर्वक पालन किया जाने लगा, तथा बाह्य नियमों के पालन ही को धर्म समझा जाने लगा। यजुर्वेद संहिता में गद्य और पद्य दोनों हैं। सूक्त छन्दोबद्ध हैं। कुछ सूक्त ऋग्वेद में ज्यों-के-त्यों ले लिये गये हैं।

सामवेद संहिता का अधिकांश भाग, ऋग्वेद में से ही लिया गया है। सामवेद का उद्देश्य वेद-मन्त्रों को गेय बनाना है, ऐसे वेद मन्त्रों को, जिनका पाठ यज्ञों के निमित्त हुआ करता था।

अथर्ववेद बहुत बाद की चीज है। इस संहिता में इन्द्रजाल, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना इत्यादि भरे पड़े हैं। स्पष्टतः यह आर्येतर संस्कृति का ही प्रभाव है। इसके बारे में बताया जा चुका है। किन्तु साथ ही उसमें पृथ्वी सूक्त जैसे सुन्दर सूक्त भी हैं। अथर्ववेद में व्रात्य स्तोम यज्ञ का विधान है। इस यज्ञ के द्वारा व्रात्यों को 'शूद्ध' करके उन्हें ब्राह्मण बना लिया जाता था। संक्षेप में अथर्ववेद तक आते-आते वैदिक धर्म में परिवर्तन आरम्भ हो गया था। अथर्ववेद में शिवलिंग को भी स्थान मिला, उस शिवलिंग को, जो सिन्धु सभ्यता का प्रतीक देवता था। पशुपति शिव तथा शिवलिंग की पूजा यजुर्वेद से ही शुरू हो गयी थी। वह देवता अश्वमेध यज्ञ तक में स्थान पा गया।

वेद 'श्रुति' भी कहलाते हैं, इसलिए कि शिष्य, उन्हें गुरुओं से सुन-सुनकर कण्ठाग्र कर लेते थे। महान् विद्वान ऋषि बादरायण वेदव्यास ने उनका संकलन किया। इसलिए, ये चारों वेद संहिताएँ कही जाती हैं। संहिता का अर्थ है एकत्र रखना अर्थात् संकलन करना। वेदों का जो रूप आज विद्यमान है वह भगवान वेदव्यास का दिया हुआ है। उन्होंने पुराणों का भी संकलन किया। भगवान वेद-व्यास अपनी माता के अवैध पुत्र थे। इनकी माता कृष्ण वर्ण की, केवट जाति की, शूद्र स्त्री थीं। इनके पिता एक आर्य ऋषि थे। वेदों को संहिता-रूप देने वाला महान द्रष्टा वेदव्यास इस बात का साक्षी है कि जिस भारतीय आर्य सभ्यता का विकास हुआ है उसमें आर्येतर तत्वों का समावेश स्वाभाविक हो उठा था।

...क्रमशः जारी

साभार : मुक्तिबोध रचनावली, भाग 6

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26196356, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com

वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए